वैभव नहीं महानता का वरण करें

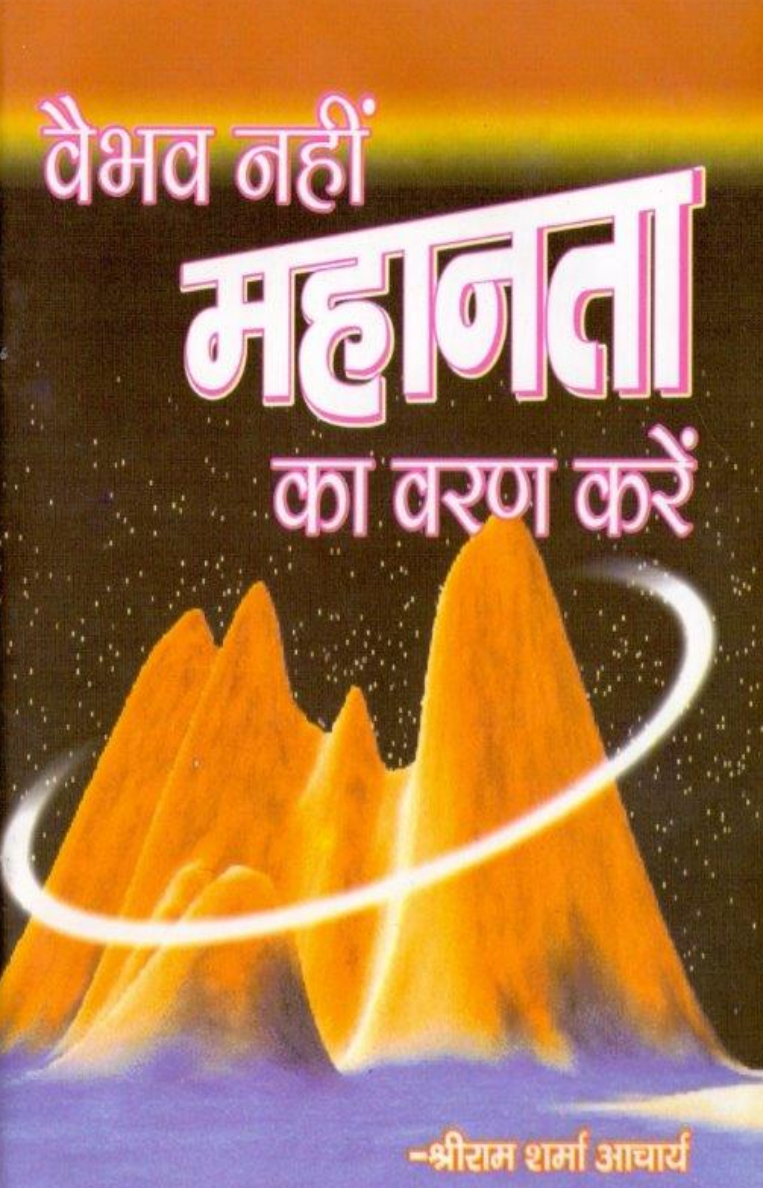

-श्रीराम शर्मा आचार्य

वैभव नहीं महानता का वरण करें

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

ऐश्वर्य को अतिरंजित महत्त्व न दें

संसार भर में जितना श्रेय और सम्मान प्रतिभाशाली व्यक्तियों को, बुद्धिजीवी विचारकों और वैज्ञानिकों को प्राप्त होता है, उसका एक अंश भी धनी व्यक्तियों को नहीं मिल पाता। फिर भी धनवान व्यक्ति का अपने निकटवर्ती क्षेत्र में प्रभाव और रोब-दाब रहता है। जिस किसी भी युग में धन के कारण व्यक्ति को प्रतिष्ठा दी जाने लगी होगी, तब यह सोचकर उसे सम्मानित नहीं किया गया होगा कि धनवान होना अपने आप में कोई बड़ी बात है। वरन उस समय धन को व्यक्ति के श्रमशील पुरुषार्थी और परिश्रमी होने का मापदंड समझा गया था। आज भी यही स्थिति है। हैनरी फोर्ड, रॉकफेलर, ओनासिस, टाटा जैसे उद्योगपतियों को संसार आज भी इसलिए आदर के साथ पुकारता है कि उन्होंने परिश्रम व पुरुषार्थ से इतनी धन-संपदा कमाई। अन्यथा उनके वंशजों ने उनकी छोड़ी गई संपत्ति को और भी बढ़ाया ही होगा। परंतु जितना सम्मान और जितनी ख्याति उन उद्योगों के संस्थापकों को प्राप्त है, उतनी उनके वंशजों को शायद ही मिली हो। कारण, उन्हें एक नई व्यवस्था की स्थापना करनी पड़ी और उसके लिए मौलिक सूझ-बूझ से परिश्रम करना पड़ा।

धन संपन्न व्यक्तियों को सम्मानित करने की परंपरा भी इसीलिए आरंभ हुई प्रतीत होती है कि उस उपलब्धि में व्यक्ति की श्रमशीलता कारण रूप से विद्यमान रहती है किंतु सामान्य जीवन में महत्त्वाकांक्षाओं की अंधी दौड़, धनवानों से ठाठ-बाट देखकर स्वयं में हीनता अनुभव करने और किसी तरह खुद भी जल्दी से धनवान बनने की जो प्रतिस्पर्द्धाएँ चलती हैं, मात्र संपन्न होने के लिए उन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। संपन्नता बड़प्पन की प्रतीक है, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन बड़प्पन का आधार यह नहीं है कि मात्र संपन्न होना ही पर्याप्त है। उचित-अनुचित सभी उपायों को अपनाकर संपन्न बने व्यक्तियों को

लोग सामने सम्मान देते हैं, पीठ पीछे उसकी निंदा, बुराई और उसके द्वारा अपनाए गए अनुचित उपाय की भर्त्सना ही करते रहते हैं। कारण, संपन्नता को सम्मानित इसलिए किया जाता है कि उसे अर्जित करने के लिए परिश्रम व पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुत: वह सम्मान संपन्नता का नहीं उसे प्राप्त करने के लिए किए गए पुरुषार्थ का होता है किंतु पहले कुछ वर्षों से जीवनमूल्यों के मानदंड कुछ इस प्रकार बदले हैं कि येन-केन-प्रकारेण संपत्ति इकट्ठी कर लेना और लोगों पर अपना रोब गालिब करना ही जीवन की सबसे बड़ी सफलता मानी जाने लगी है। लोग जानते हैं कि वे धनवान बनकर लोगों से वास्तविक श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकेंगे, फिर भी संपन्नता के लिए उलटे-सीधे हथकंडे अपनाते हैं। सभ्य व्यक्ति भी संपन्न व्यक्तियों की पीछे बुराई करते रहें परंतु सामने जयकार उन्हीं की करेंगे।

तेजी से बदलती जा रही इस स्थिति का निष्कर्ष यही निकलता है कि अब परिश्रम और पुरुषार्थ को नहीं धन को सम्मान दिया जाने लगा है, भले ही वह सम्मान मिथ्या हो किंतु ऊपरी तौर से भी दूसरों को अपने समान विनतभाव से झुकते देखने की इच्छा व्यक्ति की दृष्टि में धन को और भी मूल्यवान बना देती है।

मनुष्य एक महत्त्वाकांक्षी प्राणी है। उसकी प्रवृत्ति अधिकांशत: उसी दिशा में होती है, जिसमें कि अपना महत्त्व और प्रभाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। इसका एक उपाय तो यह है कि व्यक्ति अपनी गुण संपदा को बढ़ाए और अपने चरित्र को औसत स्तर के चरित्र से ऊँचा उठाए। वास्तविक सुख और सच्ची शांति इसी में मिलती है किंतु यह कठिन प्रतीत होता है। आसान यही लगता है कि अपनी लौकिक स्थिति औरों की अपेक्षा अच्छी बना ली जाय, उसके साथ साधन-सुविधाओं के आकर्षण भी हैं। औपचारिक सम्मान भी मिलता है जिससे अहंकार की खुजली खुजलाने का सा आनंद प्राप्त होता है। अर्थात संपन्नता के क्षेत्र में कितना ही आगे बढ़ जाएँ संतोष नहीं

मिलता, क्योंकि अहंकार की परिधि और बड़ी हो जाती है। दूसरे हजारों व्यक्ति अपने से निर्धन स्थिति में पड़े दिखाई देते हैं, उन्हें निर्धन ही देखकर अहंकारी को थोड़ी देर तो यह संतोष होता है कि मैं उनसे अच्छी स्थिति में हूँ। पर जब अपने से संपन्न व्यक्ति दिखाई देने लगते हैं तो उनकी स्थिति-अहंकार को चोट पहुँचाकर उसमें और भी खुजलाहट पैदा करती है।

धन को ही केंद्र मानकर चलाए जाने वाले क्रिया-कलाप इसी तरह के होते हैं। यदि अपने व्यक्तित्व को गुण-संपन्न बनाने पर ध्यान केंद्रित किया जाय तो लोकश्रद्धा के साथ-साथ आत्मसंतोष और शांति भी मिल सकती है परंतु अपने अहंकार को केंद्र बना लिया जाय तो संपन्नता अर्जित कर सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा अवांछनीयता को ही बढ़ावा देने लगती है। मनुष्य समाज में यही दुर्घटना उन दिनों घटी जब व्यक्ति के प्रयत्नों और उसके गुणों को नजर अंदाज कर संपन्नता को ही प्रतिष्ठा का आधार समझा जाने लगा। इस भटकाव ने ही मनुष्य समाज में आर्थिक दुराचार और मिथ्या आचरण को प्रोत्साहन दिया।

संपन्नता को सम्मान मिलते देखकर उन व्यक्तियों में भी संपन्नता का आकर्षण उत्पन्न हुआ जो 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श का अनुगमन कर रहे थे अथवा जिनमें उपलब्ध साधनों से ही संतोष करने और परिश्रम पुरुषार्थ से स्थिति में सुधार लाने का साहस व धैर्य था। इन दिनों समाज में चारों ओर अनैतिकता, बेईमानी, दुराचार और अवांछनीय हथकंडे अपनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। उसका यही कारण है कि मानवीय गुणों से मनुष्य की साधन-सुविधाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगीं। यह तथ्य भुला दिया गया कि आत्म-संतोष जीवन का मूल आधार है, आत्मिक प्रगति वास्तविक लक्ष्य है, गुणों का संवर्द्धन सच्ची कमाई है। धन तो जीवन निर्वाह का एक छोटा सा साधन मात्र है। साध्य तो मनुष्य की गरिमा और उसके गौरव की सिद्धि है।

साधन, जिसके द्वारा अपनी निर्वाह की आवश्यकताएँ पूरी की जानी चाहिए, ही साध्य बन गया तो उन दिग्भ्रांत व्यक्तियों की प्रगति यात्रा भी अवरुद्ध हुई और अवांछनीय क्रिया-कलाप भी बढ़े। आज चारों ओर से यह शिकायत सुनने को मिलती है कि कमाई से ज्यादा खरच है, ईमानदारी से पेट भरने लायक उपार्जन भी नहीं किया जा सकता, अपनी आवश्यकताओं को ही पूरा नहीं किया जा सकता। विचार किया जाय तो ये सारी आपत्तियाँ निराधार ही सिद्ध होंगी। पर मान भी लें कि ये शिकायतें सही हैं तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होने का एकमात्र कारण है—धन को जीवन केंद्र बना लेना। यदि अभी इस केंद्र को बदला जा सके तो स्थिति में सुधार सहज संभव है। चलते-चलते बैठ जाने और फिर आगे न बढ़ने का रोना रोने, मंजिल बहुत दूर है की शिकायत करने में समझदारी नहीं है। समझदारी इसमें है कि उठ खड़ा हुआ जाय, राह को ही पकड़कर बैठे रहने और मंजिल दूर ही रह जाने की भूल सुधारी जाय।

यह भूल हर उस व्यक्ति से हो सकती है जो प्रवाह के साथ बह जाने की भूल कर बैठता है। अन्य व्यक्तियों की संपन्नता को आदर देने और स्वयं भी साधन को साध्य बनाकर झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के आकर्षण में फँस जाने वाले व्यक्ति उसी प्रकार का मिथ्यात्व ओढ़ने लगते हैं। अपने से अच्छी स्थिति वालों के समान साधन-सुविधाएँ पास न होने पर भी उन जैसा बनने की ललक उनकी विलासिता को अपनी आवश्यकता अनुभव करने लगती है। यहीं से आरंभ होता है जीवन में मिथ्यात्व का प्रवेश। पास में इतना पैसा तो है नहीं कि जिसे हमने अपना आदर्श समझा है, उसके समान ठाठ-बाट रचा सकें। उन्हीं सुविधाओं को स्वयं भी जुटा सकें जो दूसरों के पास हैं। महत्त्वाकांक्षा कहें या अहंकार की उत्तेजना, उन सुविधाओं के बिना जीवन सूना लगने लगता है और व्यक्ति उन्हें प्राप्त करने के लिए किसी 'शार्ट-कट' को अपनाने की योजना बनाने लगता है।

इस संबंध में यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल वही व्यक्ति इस भटकाव के शिकार हैं जो अनुचित उपायों द्वारा अपने को वैभव संपन्न बनाने में लगे हुए हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ भी उचित से अधिक बढ़ने लगीं तो समझना चाहिए कि आज नहीं तो कल हम भी उसी भटकन के शिकार होंगे। मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं और इन्हें सीमित साधनों में ही पूरा किया जा सकता है पर धन को सम्मान का आधार मानने वाले व्यक्ति उन थोड़ी सी वास्तविक आवश्यकताओं के साथ ढेर सारी कृत्रिम आवश्यकताएँ जोड़ लेते हैं और उन्हें पूरा करने में स्वयं को खपा देते हैं। कहने का अर्थ यह नहीं है कि सीमित आवश्यकताएँ सीमित साधनों से पूरी हो जाती हैं इसलिए व्यक्ति को परिश्रम करना ही छोड़ देना चाहिए। कहा इतना भर जा रहा है कि कृत्रिम आवश्यकताएँ उस स्थिति में इतनी अनिवार्य लगने लगती हैं कि उन्हें किसी भी तरह पूरा करने के लिए आतुर हो जाना पड़ता है। पर न उचित-अनुचित का विवेक रह जाता है और न जीवन मूल्यों का ध्यान ही आ पाता है। हर स्तर पर अनैतिकता, बेईमानी और भ्रष्टाचार का कारण कृत्रिम आवश्यकताएँ, प्रदर्शनवाद, झूठा बड़प्पन और मिथ्यात्व ही है।

इतने सारे अनर्थ एक साथ होने का कारण धन को ही बड़प्पन और प्रतिष्ठा का एकमात्र मापदंड मानने की परंपरा है। जो ब्याह-शादी में जितना अधिक पैसा खरच कर सकेगा वह उतना बड़ा आदमी, अपनी बेटी की शादी में अनाप-शनाप धन-दहेज देने वाला बड़ा आदमी, महँगे कपड़े, नाचरंग, शराब-व्यसन, सिनेमा, होटल, क्लब में जो जितने अधिक खरच करता हो, वह उतना ही बड़ा आदमी और भगवान भी उस पर कृपावंत समझा जाता है। बड़प्पन की ये परिभाषाएँ नैतिक आदर्शों का अवमूल्यन कर देती हैं। कहा जाता है, "बड़े लोगों के गुनाह भगवान भी माफ करता है।" इस मान्यता से अधिक नैतिकता का पतन और क्या होगा। बड़े लोग अर्थात धनवान और उनसे कोई

यह नहीं पूछता कि आपने इतना पैसा कहाँ से और कैसे कमाया ? न यही जानने की चेष्टा की जाती है कि बैठे-ठाले अमीर बनने वाले व्यक्ति किन तरीकों को अपनाकर बड़े बन रहे हैं।

इतना अवश्य है कि निम्न स्थिति के व्यक्तियों को अपने से अच्छी स्थिति वालों से ईर्ष्या होती है। रोष इसलिए होता है कि हमें वैसे अवसर क्यों नहीं मिलते जिनसे हम भी इतना ठाठ-बाट और वैभव ऐश्वर्य सँजो सकें।

विभूतियों को परखने और उन्हें सम्मान देने में हुई जरा सी इस भूल ने व्यक्ति और समाज को गंभीर क्षति पहुँचाई है। व्यक्तिगत जीवन में इन कारणों से जहाँ-जहाँ भी मिथ्यात्व ने प्रवेश किया, वहाँ कई तरह के रोग-दोष उत्पन्न हुए और उनसे लड़ने में ही जीवन संपदा का व्यय होने लगा। बहुतेरे ऐसे हैं जो किसी तरह अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए अपनी आवश्यकताओं को बूते से बाहर की सीमा तक बढ़ा ले गए। उनके लिए या तो उन्हें ऋण लेना पड़ा अथवा अनैतिक उपाय करने पड़े। ऋण चुका नहीं पाए और आर्थिक अपराध भी प्रकट हो गए। दिवालिया होने से लेकर स्वास्थ्य गिर जाने और मानसिक शांति नष्ट होने तक के विभिन्न दुष्परिणाम सामने आए फलस्वरूप जीवन बरबाद हो गया।

सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अपराधों का जोर इन्हीं कारणों से हुआ कि धन लोगों के जीवन का केंद्र बन गया। इस भूल को सुधारा जाना चाहिए और धन को बड़प्पन का मानदंड समझने की भ्रांति मिटाई जानी चाहिए।

व्यक्तिगत जीवन में आहार-विहार में मिथ्याचार करने से न जाने कितने प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोग-दोष पैदा हो जाते हैं, जिनसे संघर्ष करते-करते ही बहुमूल्य मानव जीवन समाप्त हो जाता है, जिससे न तो वह वर्तमान में कोई सुख-शांति पा सकता है और न आगे उसकी कोई व्यवस्था कर पाता है।

मानव जीवन के परम लक्ष्य सुख-शांति को पाने के लिए जिस शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है, मिथ्याचारी के जीवन में उसका कभी आगमन नहीं होता। मिथ्याचार का अर्थ ही यह है कि वह सब कुछ न करना, जिसको करना चाहिए और वही सब कुछ करना, जिसको नहीं करना चाहिए।

यद्यपि इस प्रकार के अकरणीय कार्यों को अज्ञानवश करने से भी कोई परिणाम के कुफल से बच नहीं पाता तथापि जो जानता हुआ भी अकरणीय कार्य किया करता है, उसकी दुर्दशा की तो कल्पना कर सकना ही कठिन है। धूर्त और मक्कार लोग ऊपर से कितने ही खुश और खुशहाल क्यों न दिखाई दें किंतु अंदर से वे बड़े ही व्यग्र, विफल तथा दरिद्री रहा करते हैं। उनके हृदय में हर समय एक जलन, एक पश्चाताप एवं आत्मग्लानि कसका करती है और यही आंतरिक अशांति मनुष्य के लोक-परलोक में आग लगाने का हेतु बनती है।

मिथ्याचार सामाजिक जीवन में अविश्वास एवं असम्मान के परिणाम उपस्थित करता है। ऐसा व्यक्ति बेईमान, मक्कार और धूर्त सिद्ध हो जाता है, लोग उससे व्यवहार करने से बचते हैं। अपना कोई काम न तो मिथ्याचारी को सौंपते हैं और न उसका कोई काम करने को तैयार होते हैं। उसके किए कामों और कहे वचनों में विश्वास नहीं करते। एक बार यदि मिथ्याचारी किसी काम अथवा कथन में सत्यता का व्यवहार भी करता है, तब भी कोई उस पर विश्वास नहीं करता और उससे दूर रहने का प्रयत्न किया करता है।

मिथ्याचारी से घृणा किया जाना तो एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। लोग उसके मुँह तक पर बेईमान, चोर, धूर्त कह देते हैं, इसके एवज में वह क्यों न क्रोध करने लगे, क्यों न वह लड़ने को तैयार हो जाए? किंतु यह सब उसका ऊपरी दिखावा मात्र होगा। उसकी आत्मा इस सत्य को स्वीकार ही करती रहती है।

मिथ्याचार के दोष से मनुष्य में कायरता तथा दब्बूपन आ जाता है। वह खुलकर न तो समाज में बात कर पाता है और न विश्वासपूर्वक खुलेतौर पर काम कर सकने का साहस कर पाता है। वह हर समय

चोर की तरह डरा-डरा और दबा-दबा रहा करता है। समाज में उसकी इज्जत दो कौड़ी की हो जाती है। जब तक उसकी काठ की हाँडी चढ़ी रहती है, वह अपने को बड़ा बुद्धिमान समझकर प्रसन्न रहता है। किंतु भेद खुलते ही, जो शीघ्र खुल ही जाता है ऐसी दयनीयता के हिल्ले लग जाता है कि फिर जीवन भर पछताने और दुखी होने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता।

राष्ट्रीय जीवन का मिथ्याचार सबसे भयानक होता है। राष्ट्रीय स्तर का मिथ्याचार ही पराधीनता, शोषण, अत्याचार का हेतु बना करता है। यही नहीं, कभी-कभी तो राष्ट्रीय स्तर का मिथ्याचार राष्ट्रों को ही मिटा दिया करता है।

आज खेद के साथ देखना पड़ रहा है और शौक के साथ कहना पड़ रहा है कि भारतवासियों के जीवन से ईमानदारी और सचाई दिन-दिन निकलती चली जा रही है। संसार में अपनी सचाई तथा नैतिकता के लिए प्रसिद्ध भारतीय राष्ट्र आज मिथ्याचार एवं अनैतिकता के लिए बुरी तरह बदनाम हो रहा है।

यह वही भारतीय राष्ट्र है, जिसके घरों में ताले नहीं डाले जाते थे, प्रहरी नहीं रखे जाते थे, एकदूसरे के रक्षक स्वयं ही बने रहते थे, धोखे से मिथ्याचार हो जाने से प्राण देकर प्रायश्चित किया करते थे, अनजान में भी किए गए पाप को स्वयं प्रकाशित कर दिया करते और जब तक उसका परिमार्जन नहीं कर लेते थे, अपने को सामाजिक जीवन के योग्य नहीं समझते थे।

आज के बढ़े हुए ऐसे आर्थिक दुराचार के मूल में धन की अपरिमित लिप्सा ही काम कर रही है। यह स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविक आवश्यकताएँ किसी को भ्रष्टाचार के लिए विवश नहीं कर रही हैं, क्योंकि मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताएँ इतनी कम होती हैं कि वे ईमानदारी की कमाई से भी, यदि मितव्ययता और सादगी का जीवन जिया जाय तो सहज ही पूरी हो सकती हैं। आज का सारा मिथ्याचार आवश्यकताओं और आडंबरपूर्ण फजूलखरची की आदतों के कारण ही फैला हुआ है।

आज लोग बड़े प्रदर्शनवादी और दुर्व्यसनी बन गए हैं। अनावश्यक अपव्ययता ने उनकी आवश्यकताएँ जमीन से आसमान तक बढ़ा दी हैं। हमारे जीवन में आदर्शवाद का स्थान भोगवाद ने ले लिया है। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धांत भुलाकर लोग ओछे विचार और दिखावे का जीवन पसंद करने लगे हैं। कम से कम परिश्रम करने में अधिक से अधिक धन पैदा करने की प्रवृत्ति ने लोगों को भ्रष्टाचार के पाप की ओर अग्रसर कर दिया है।

जहाँ इस पतन में मनुष्य की मानसिक दुर्बलता काम कर रही है, वहाँ कुछ खरचीले सामाजिक रीति-रिवाज भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। ब्याह-शादी, दान-दहेज, प्रीतिभोज, मृत्युभोज जैसी सामाजिक कुरीतियाँ भी ऐसे ही रीति-रिवाज हैं जो हमें किसी प्रकार भी अधिक पैसा कमाने पर मजबूर कर रहे हैं।

इसके साथ ही समाज में पैसा ही आदर, सम्मान और बड़प्पन का मापदंड बन गया है। जिसके पास जितना ज्यादा पैसा है वह आदमी उतना ही अधिक बड़ा और आदर का पात्र माना जाने लगा है। पैसे को बड़प्पन का चिह्न मानने वाले अथवा उससे प्रभावित होकर किसी को आदर-सम्मान देने वाले यह क्यों नहीं देखते कि इसने इतना पैसा कमाया किस मार्ग से है? पाप से पैसा कमाकर भी जब आदर मिल सके तो कोई पसीने की कमाई में विश्वास क्यों करने लगे?

यह बात सही है कि पैसा भी बड़प्पन का चिह्न माना जाता रहा है। उसका कारण यही था कि आसानी से न मिल सकने के कारण लोगों को इसके लिए कठिन परिश्रम एवं पुरुषार्थ करना पड़ता था। इस प्रकार जिसके पास जितना पैसा होता था, वह उतना ही परिश्रमी, सद्गुणी एवं पुरुषार्थी माना जाता था। इस प्रकार धन के कारण दिया जाने वाला बड़प्पन वास्तव में उस परिश्रम एवं पुरुषार्थ का ही सम्मान हुआ करता था, जो पैसा कमाने में लगाया था। किंतु अब स्थिति बदल गई है। लोग परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बजाय धूर्तता, भ्रष्टाचार तथा बेईमानी से पैसा अधिक इकट्ठा करने लगे हैं इसलिए पैसे के कारण किसी को सम्मान देने का मतलब है—भ्रष्टाचार एवं बेईमानी की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना। ❐

विचारणा में दूरदर्शिता हो आचरण में शालीनता

प्रगतिशीलता का अर्थ यदि संपन्नता किया जाएगा और उसके साथ चिंतन की श्रेष्ठता को न जोड़ा जाएगा तो फिर लक्ष्य यही बन जाएगा कि भौतिक समृद्धि को किसी भी प्रकार उपार्जित किया जाय। समृद्धि के मनचाहे उपयोग में आकर्षण की अधिकता रहती है। यदि उस पर भावनात्मक उत्कृष्टता का अंकुश न रहे, तो फिर समृद्धि की उत्कंठा ऐसी आतुरता उत्पन्न करेगी कि उसे धर्म-मर्यादाओं का स्मरण दिलाने से भी नियंत्रित न किया जा सकेगा और वह कुछ भी—किसी भी उपाय से कर गुजरने—अनीति और उच्छृंखलता बरतने तक में प्रवृत्त होती दिखाई पड़ेगी। ऐसी प्रगति व्यक्ति को दुर्गुणी और समाज को अनाचारी बना देगी। कहना न होगा कि प्रकृति और चेतना के शाश्वत नियम इस प्रकार की अनुपयुक्त माँग से उपार्जित संपदा को सहन न करेंगे, सर्वत्र संकट, विग्रह और विनाश के दृश्य उपस्थित होंगे।

जीव चेतना के साथ जुड़ी हुई जिस प्रगति-आकांक्षा की चर्चा की जाती है, उसे सुसंस्कृत दृष्टिकोण एवं शालीनतायुक्त चरित्र के रूप में ही मान्यता दी जा सकती है। उसी के माध्यम से व्यक्ति की विशिष्टता बढ़ती है। व्यक्तित्व की विशिष्टता एक शक्तिशाली चुंबक है, जिसके आकर्षण से उपयोगी साधन-सामग्री उतनी मात्रा में सहज ही उपार्जित होती रहती है, जितनी कि निर्वाह के लिए आवश्यक है। इससे अधिक मात्रा का उपार्जन एवं उपयोग व्यक्तित्व में अनेक दुर्व्यसन उत्पन्न करेगा और समाज में अपराधी दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देगा। दूरदर्शी विवेकशील सदा से यही कहते रहे हैं कि यदि भौतिक उपार्जन अधिक मात्रा में होता है, तो भी उसका उपयोग औसत नागरिक-स्तर का ही किया जाना चाहिए। उसे संग्रह में, कुटुंबियों में, मुफ्त बाँटने में बरबाद

न करके लोकोपयोगी कार्य में खरच कर दिया जाय। लालच इस नीतियुक्त दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। फलतः बढ़ी हुई संपदा प्रगति दीखते हुए भी सुखद प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करती। यही कारण है कि उत्कृष्टता का अंकुश न रहने पर समृद्धि सर्वत्र दुष्परिणाम ही उत्पन्न करती देखी गई है। भले ही उसके अधिपति कुछ समय तक विलासी-संग्रही के रूप में अपने अहंकार का प्रदर्शन करते फिरें।

यह कठिनाई भावनात्मक प्रगति में नहीं है। दृष्टिकोण में उत्कृष्टता, विचारणा में दूरदर्शिता और गतिविधियों में शालीनता का समावेश बढ़ता चले तो क्रमशः व्यक्तित्व का वजन बढ़ता जाएगा। ऐसा व्यक्ति अपनी आँखों में—समूचे समुदाय की आँखों में वजनदार बनता जाएगा। जिसका जितना मूल्यांकन किया जाता है, उसे उसी स्तर के प्रतिफल, अनुदान एवं उपहार भी मिलते रहते हैं। व्यक्तित्ववानों की अपनी क्षमताएँ विकसित होती हैं और उनके सहारे उपयुक्त निर्वाह की साधन-सामग्री सहज ही उपार्जित की जा सकती है। इसके विपरीत संकीर्ण-स्वार्थपरता में निमग्न व्यक्ति प्रायः अनुदार, असामाजिक और कई बार अपराधी प्रवृत्ति के भी होते हैं। ऐसे लोगों का मूल्य सर्वसाधारण की दृष्टि में गिर जाता है। फलतः वे दूसरे की सहानुभूति, सहायता, आत्मीयता से वंचित रहने पर उपार्जन भी एक सीमा तक ही कर पाते हैं। उसकी छीन-झपट का एक नया सिलसिला चल पड़ता है। फलतः कड़ुवे-मीठे आक्रमण करने वाले, अपने-विरानों से चमड़ी बचाना तक कठिन हो जाता है।

गुण-अवगुण की कतिपय कसौटियाँ पार करने के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि एकांगी समृद्धि चमकीले साँप की तरह लगती तो आकर्षक है, पर वह अपने विष दंश से असीम हानि पहुँचाती है। इसके विपरीत व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाने का लक्ष्य निर्धारित करने पर घाटा तो इतना ही हो सकता है कि निर्वाह के अनिवार्य साधनों से संतुष्ट रहना पड़े और ठाठ-बाट में धनवानों जैसा

सरंजाम न जुट सके। इतने पर भी इसी मार्ग पर चलते हुए जो संतोष और सम्मान मिलता है, उसका वैयक्तिक सामाजिक मूल्य कुछ कम नहीं है।

वे दिन बहुत पीछे रह गए जब संपन्नताजन्य ठाठ-बाट को—अपव्यय को, देखकर लोग अमीरों को ईश्वर का प्यारा—भाग्यवान, बुद्धिमान मानते और नतमस्तक होते थे। अब मूल्यांकन की कसौटियों में जमीन-आसमान जितना अंतर आ गया है। इन दिनों समाजवादी—साम्यवादी चिंतन व्यवहार में भले ही बेहतर पाया जाता हो, अर्थ-दर्शन के रूप में वह पूरी तरह लोक-समर्थन प्राप्त कर रहा है। उस मान्यता के अनुरूप अधिक संग्रही, अधिक विलासी, अधिक अपव्ययी लोग नीतिवान नहीं समझे जाते। अस्तु, उन पर 'अनीति की कमाई विलास में उड़ाई'—की उक्ति के अनुरूप तरह-तरह के लांछन लगाए जाते हैं। वैभव की चकाचौंध तो अभी भी है और उसे लोग झपटना-हड़पना तो अभी भी चाहते हैं किंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वैभववानों की प्रशंसा एवं प्रभावों के दिन लद गए। उन पर हर कोई अनीति उपार्जन का लांछन लगाता है, भले ही वह अनुचित ही क्यों न हो ! पुरातन काल में अपना-अपना भाग्य कहकर संतोष कर लिया जाता था, पर अब तो ईर्ष्या के उभार का मौसम है। साम्यवादी प्रतिपादन ने ऐसी ही लोकदृष्टि का विस्तार किया है और वह अधिकांश जन-समुदाय के गले उतर गई है। अपराधी को दंड देने के प्रचलन में संपन्नों को कोसने-लांछित करने की गरमागरम चर्चा तो होती ही है। साथ ही अपहरण के सफल-असफल उपाय भी दिमागों में चलते एवं जब-तब क्रियान्वित भी होते रहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि लोगों के बीच बढ़ी हुई आर्थिक असमानता ने अपराधी दुष्प्रवृत्तियों को इन दिनों अत्यधिक बढ़ावा दिया है। विश्लेषण करने पर इसी नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि दूसरों को प्रभावित करने, उनसे इज्जत पाने का सपना सर्वथा निरर्थक निकला; उलटे तीन हानियाँ हुईं—पैसा गया, प्रामाणिकता घटी, संकट बढ़ा और दुर्गुणी दुर्व्यसनों

का ऐसा भार अकारण ही लद गया जो व्यक्तित्व का मूल्य गिराता और मन:संस्थान पर तनाव उत्पन्न करने वाले जंजालों से जकड़ता है।

संचय को उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ना या भोगना इसी हालत में उचित है जितने से उनके वयस्क होने तक का गुजारा एवं स्वावलंबन का आधार खड़ा हो सके। ब्याज-भाड़े की कमाई बैठे-बैठे खाते रहने का प्रबंध करना, मुफ्त का माल अनगढ़ पीढ़ी पर छोड़कर चले जाना, उनका हितसाधन नहीं है और न दुलार का परिचय देने वाला तरीका। यह तो विनाश का मार्ग है, जिस पर अभिभावक अनजाने ही दुलार के नाम पर अपनी संतान को धकेलते हैं।

यही सब है, पर सफलताओं की परिणति, जिन्हें भौतिक संपदा कहते हैं। विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, कला का—पदासीन या प्रतापी होने का लाभ तभी है, जब उनके साथ शालीनता का अनुशासन जकड़ा रहे। उसकी पकड़ ढीली होते ही ये सभी विभूतियाँ अनुपयुक्त मार्ग पर चल पड़ती हैं। दुर्बलों को दबोचने और उनसे अपना उल्लू सीधा करने के काम आती हैं।

मात्र वैभव-बड़प्पन का मार्ग तो बारूद का खेल-खेलने की तरह है। उसमें फुलझड़ी उड़ती तो दीखती है, पर चिनगारी से जलने और पैसे की बरबादी होने की हानि भी स्पष्टत: सामने खड़ी रहती है। वैभव का उपार्जन एक बात है और उसके उत्पादन एवं उपयोग में शालीनता का समावेश होना सर्वथा दूसरी। संपदा तो दोधारी तलवार है। यदि उसका अभ्यास एवं प्रयोग सही न हुआ तो उसका होना, न होने से भी अधिक महँगा पड़ेगा। अविवेकी के हाथ में पड़ा हुआ वैभव तो बंदर के हाथ में तलवार के समान है जिसने मक्खी मारने का लाभ सोचने पर भी मालिक की नाक काटकर हानि पहुँचाई थी।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए हमें शांति से निष्पक्ष न्यायाधीश जैसे विवेक का उपयोग करते हुए यह देखना होगा कि संपदा को प्रमुखता दी जाय या महानता को? निश्चय ही दूरदर्शिता का फैसला महानता की गरिमा स्वीकारने और उसे उपलब्ध करने के प्रयास में जुट पड़ने का ही होगा।

❐

उत्कृष्टता का वरण
एक महान पुरुषार्थ

महानता की ओर बढ़ने और निम्नता की ओर गिरने की एक प्रक्रिया है, जिसको अपनाकर लोग ऊँचे उठते हैं और नीचे गिरते हैं। वह प्रक्रिया क्या है—आंतरिक देवासुर संग्राम। मनुष्य के हृदय में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। जो व्यक्ति अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ द्वारा आसुरी वृत्तियों का शमन कर दैवी वृत्तियों का विकास कर लेता है, उन्हें पुष्ट और प्रबल बना लेता है, वह महानता की ओर उठ जाता है और जो व्यक्ति प्रमादवश ऐसा नहीं करते उनकी आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। इस प्रकार का आसुर्य प्रभावित व्यक्ति पतन के गर्त में गिर जाता है।

देवत्व का उत्थान ही उच्चता अथवा महानता है और असुरत्व की प्रबलता ही पतन है। एक संत अथवा जनसेवक जिसके पास न धन है न पद है, और न कोई सत्ता लेकिन अपनी सेवाओं, दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति आदि गुणों के कारण महान है। जबकि बड़ी-बड़ी विजय करने वाला, साम्राज्य स्थापित करने वाला, शासनतंत्र संचालित करने वाला उच्च पद पर प्रतिष्ठित, संपत्ति, सत्ता और शक्ति संपन्न होते हुए भी अपने अत्याचार, अनीति, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न की वृत्ति के कारण पतित है, निम्नकोटि का है। महानता अथवा निम्नता का भाव स्थिति में नहीं बल्कि आंतरिक गुण-अवगुणों में रहता है।

महानता का शुभारंभ अंतर से होता है, बाह्य से नहीं। अंतर को महान बनाए बिना वास्तविक रूप में कोई महान नहीं बन सकता। यदि कोई अधो अंतर वाला संयोग, चातुर्य अथवा परिस्थितियों द्वारा किसी उच्च पदवी और प्रतिष्ठा पर पहुँच भी जाता है तो बहुत दिन तक वह अपने उस ऐश्वर्य को सुरक्षित नहीं रख सकता। उसकी

आंतरिक विकृतियाँ उसे निकृष्ट कार्य और विचार जाल में फँसाकर शीघ्र ही धूल में गिरा देती हैं। संसार में रावण, कुंभकरण, कंस, दुर्योधन आदि न जाने कितने अधो अंतर वाले व्यक्ति उच्च पद पर पहुँच-पहुँचकर ऐसे पतित हुए कि आज तक घृणित कहे जाते हैं। आज भी आएदिन किन्हीं कारणों से पूजा और प्रतिष्ठा के स्तर तक पहुँचकर न जाने कितने तथाकथित साधु, संत, महात्मा, नेता और सत्ताधारी अपनी अधो-मनोवृत्ति को प्रताड़ना से अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं।

इसके विपरीत संसार में ऐसे महानुभावों की कमी नहीं है और न रही है, जो पतित अवस्था से, आंतरिक सुधार के आधार पर पूजा और प्रतिष्ठा के पद तक पहुँचे हैं। ऐसे महान व्यक्तियों में वाल्मीकि, अंगुलिमाल, सूर, तुलसी आदि न जाने कितने महात्मा और अशोक आदि राजा गिनाए जा सकते हैं। महानता का आधार अंतर है, बाह्य परिस्थितियाँ नहीं। महानता के वास्तव में ऐसे फल हैं, जो अंतर की डाली पर लगा करते हैं। यदि आंतरिक डाली मजबूत और उपयुक्त नहीं है तो निश्चय ही उस पर लग जाने वाले महानता के फल स्वयं तो नष्ट हो ही जाएँगे, व्यक्ति का अस्तित्व भी उसी प्रकार नष्ट कर देंगे जैसे फलों के भार के वृक्ष की कमजोर डाली फट पड़ती है और शीघ्र ईंधन बनकर स्वाहा हो जाती है।

संसार में सभी को महानता वांछनीय है। उसे प्राप्त करने का प्रयत्न भी करना चाहिए। क्योंकि मानव जीवन की सार्थकता इसी में है तथापि धन, संपत्ति और पद-प्रतिष्ठा के लिए यों ही सहसा दौड़ पड़ने से पूर्व आवश्यक है कि उसका विकास पहले अपने हृदय में, अपने चरित्र में कर लिया जाय।

आंतरिक औदार्य और चारित्रिक महानता पा लेने वाला धन-दौलत, पूजा-प्रतिष्ठा के अभाव में भी अपने में एक आध्यात्मिक शांति, नैसर्गिक संतोष और आनंददायक पूर्णता का अनुभव किया करता है। अस्तु, बाहर की किसी महानता के लिए दौड़ पड़ने से पूर्व आंतरिक और चारित्रिक पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

महानता की ओर बढ़ने का यही साधु मार्ग है और यही उपयुक्त नीति है।

उच्च और निम्न बनने के दोनों अवसर होते हुए ऐसा कौन होगा, जो महान न बनकर निम्न बनना चाहेगा। महान बनने के लिए आंतरिक द्वंद्व, देवासुर संग्राम लड़ना ही पड़ेगा। इस संग्राम में देवतत्त्वों की विजय के आधार पर ही महानता प्राप्त हो सकेगी। इस संग्राम को प्रारंभ करने की रीति यही है कि पहले यह देखा जाय कि मेरे भीतर कौन से आसुरी तत्त्व अधिक प्रबल हैं? उन पर निरंतर कठोर प्रहार करते रहना चाहिए और अन्यों के साथ असहयोग। किंतु यह अपूर्ण मोर्चा होगा। मोर्चा पूरा करने के लिए दैव वृत्तियों को पोषित और प्रोत्साहित करना होगा।

इस विधि से युद्ध चलाने पर आसुरी तत्त्व निर्बल और देवतत्त्व प्रबल हो उठेंगे। एक बार पूर्णतया प्रबल हो जाने पर देवतत्त्व असुर तत्त्वों को पूरी तरह दबाकर उन्हें नष्ट कर देंगे। मन, बुद्धि और शरीर को अपने अधीन कर लेंगे और तब उस संग्राम में आपकी पूर्ण विजय हो जाएगी। इस विजय के साथ ही आप स्वभावतः महानता की ओर अग्रसर हो चलेंगे।

आसुरी तत्त्वों की निर्बलता और सुरतत्त्वों की प्रबलता एवं प्रोत्साहन का अमोघ उपाय है—श्रेष्ठता का आवाहन। संसार की सारी श्रेष्ठताएँ ईश्वरीय तत्त्व हैं, उनका आश्रय लेते ही शरीर में, मन और मस्तिष्क में शक्ति के रूप में ईश्वरीय अनुकंपा का प्रवेश होने लगेगा। जिसको यह अनुकंपा मिल जाए, उसकी विजय को कौन रोक सकता है? हाथ में जो भी कर्त्तव्य लिया जाय उसे संपूर्ण श्रेष्ठता के साथ किया गया। जिस विचार को भी स्थान दिया जाय, वह श्रेष्ठ हो। जिस आकांक्षा एवं कल्पना को जन्म दिया जाय वह श्रेष्ठ, शुद्ध और सार्थक हो। इस प्रकार सब ओर सब प्रकार श्रेष्ठता को आश्रित करने से असुरता को परास्त और देवत्व को प्रबल होते देर न लगेगी।

इस देव अभियान के साथ कभी-कभी असुरता का भी प्रबल आक्रमण होगा। क्यों न होगा? असुरतत्त्व यों ही शीघ्रता से अपनी पराजय मान भी कैसे लेंगे? वे भी अपनी करनी में कसर नहीं छोड़ेंगे। जब भी अवसर पाएँगे, निराशा, निरुत्साह, आलस्य, प्रमाद, प्रशमन, स्वार्थ, लोभ, काम, क्रोध, अहंकार आदि के रूप में आक्रमण करेंगे। आसुरी तत्त्वों का यह आक्रमण प्रबल होता है। इसे रोकने और विफल करने में ही पुरुष के पुरुषार्थ का पता चलता है। यह आक्रमण ऐसे प्रबल सम्मोहन से आवृत्त होता है कि अच्छे-अच्छे बुद्धिमान भ्रम में फँस जाते हैं।

यह असुर संग्राम जीतने के लिए आत्मनिष्ठा एक प्रबल संबल है और आत्मविश्वास एक अमोघ अस्त्र। आत्मा के रूप में मनुष्य के भीतर एक ऐसी चमत्कारी शक्तियों का भंडार भरा है, जिसको जाने बिना कल्पना तक नहीं की जा सकती है। आत्मनिष्ठा में उतरते ही मनुष्य में एक दिव्य तेज का समावेश हो जाता है। उसका विवेक शक्तिशाली होकर प्रधान सेनापति की भूमिका प्रदान करता है।

इस प्रकार अंतर के देवासुर संग्राम में विजय पाकर मनुष्य को बाह्य मान्यताओं के लिए अग्रसर होना चाहिए। ऐसे समर्थ पुरुष को संसार का कोई भी इष्ट दुर्लभ नहीं। असुरजयी देवपुरुष स्वयं ही अपने कल्पतरु हुआ करते हैं। वे जिस समय जो सिद्धि चाहते हैं, उन्हें मिल जाती है। आंतरिक आभा से दीप्त मुखमंडल और विश्वस्त व्यवहार को लेकर वे जिस ओर निकल जाएँगे समाज उनकी अभ्यर्थना में खड़ा हो जाएगा और चाहेगा कि वह उनका नेतृत्व करे, पथ प्रदर्शन करे। जिससे कि वे भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों के योग्य बन सकें।

हर मनुष्य में एक जन्मजात महापुरुष छिपा होता है। लेकिन वह आसुरी तत्त्वों के कारागार में बंद होता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसे देवत्वों की सहायता से मुक्त करे और महान कृत्यों द्वारा महानता की ओर बढ़े। ❐

चरित्रनिष्ठा-सर्वोपरि शक्ति

चरित्र एक ऐसा शब्द है जो मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व का उद्‌बोधन करता है। व्यक्तिगत जीवन में कर्त्तव्यपरायणता, सत्यनिष्ठा, पारिवारिक जीवन में स्नेह, सद्‌भाव, सामाजिक जीवन में शिष्टता, नागरिकता आदि आदर्शों के प्रति जिस व्यक्ति में अगाध निष्ठा है और जो प्रतिपल इन आदर्शों को अपने जीवन में आत्मसात रखता है, उसे चरित्रवान कहा जा सकता है। किसी भी राष्ट्र या समाज की उन्नति का आधार वहाँ के भौतिक साधन, खनिज संपदा या उर्वर भूमि नहीं होती वरन किसी देश का उत्कर्ष उसके चरित्रवान नागरिकों पर निर्भर करता है।

एशिया के एक छोटे से देश जापान ने दो-दो महायुद्धों में पूरी तरह तहस-नहस हो जाने के बाद भी आज विश्व इतिहास में दीप्तिमान स्थान प्राप्त कर लिया। उसका एक ही कारण है, वहाँ के चरित्रवान नागरिक, देशभक्ति और ईमानदार नागरिक।

पहले विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों द्वारा पूरी तरह कुचल दिए जाने के बाद कुछ ही वर्षों में जापान ने चमत्कारी उन्नति कर दिखाई, वह दुनिया भर के देशों में मिसाल के तौर पर कही-सुनी जाती है। विजेता राष्ट्र विजय का उपहार लेकर भी युद्ध में हुई क्षति को पूरा नहीं कर पाए थे कि पराजित जापान ने हार के बावजूद अपने यहाँ अर्थतंत्र की रीढ़ को पुनः मजबूत बना लिया। कारण एक ही था, वहाँ के निवासियों की देशभक्ति। जिन दिनों जापान में बनी चीजें दूसरे देशों के बाजारों में बहुत ही सस्ती बेची जाती थीं उन दिनों जापानवासी स्वयं उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करने के लिए महँगी कीमत चुकाते थे। विदेशी बाजार में अपनी वस्तुओं की धाक जमाने के लिए तब जापानी लागत से भी कम दाम पर उनका विक्रय करते थे। स्पष्ट ही घाटा होता और इस घाटे को वे स्वयं महँगे दाम देकर पूरा करते थे।

देशभक्ति या राष्ट्र प्रेम व्यक्ति के चरित्र का एक अनिवार्य अंग है और जिन देशवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति जितनी गाढ़ी भक्ति होगी उसमें सुव्यवस्था, शांति और समुन्नति के आधार उतने ही पुष्ट होते चले जाएँगे। राष्ट्र का अर्थ—अपना समाज, देश, परिवार ही है और ऐसे व्यक्ति जनहित के लिए कोई भी उत्सर्ग करने के लिए हँसते-खेलते तैयार हो जाते हों। कहा जाता है कि एक बार अमेरिका में किन्हीं रोगों के उपचार का प्रयोग करने के लिए जीवित मनुष्यों के शरीर की चीर-फाड़ आवश्यक अनुभव की गई। वैज्ञानिक जीवित मनुष्य की देह चीरकर कुछ प्रयोग करना चाहते थे। अत: समाचारपत्रों में विज्ञापन दिए गए कि जो व्यक्ति इसके लिए स्वयं को प्रस्तुत करेंगे उनके परिवार को पर्याप्त धन दिया जाएगा। राष्ट्रीयता और जनहित की भावना से प्रेरित होकर सैकड़ों व्यक्तियों ने स्वयं को प्रस्तुत किया और इस उत्सर्ग की परंपरा का महत्त्व रुपयों के बदले कम न होने दिया परिणामस्वरूप कई असाध्य रोगों की चिकित्सा के उपाय खोजे जा सके।

चरित्रवान व्यक्ति के लिए अपना स्वार्थ नहीं दूसरों का—समाज का हित मुख्य रहता है। इसी कारण वे सामूहिक हितों या परमार्थ प्रयोजनों के लिए अपने स्वार्थ का ही नहीं अपने अस्तित्व का भी परित्याग कर देते हैं। घटना पेरिस में हुई राज्यक्रांति के समय की है। तब क्रांतिकारियों का दमन कर दिया गया था और उन्हें जेल में बंद किया जा चुका था। उन्मत्त विपक्षी सैनिकों ने एक कैदखाने में घुसकर उसमें कैद बंदियों को गाजर-मूली की तरह काटना शुरू कर दिया। विद्रोही सैनिकों ने उसमें से एक बंदी को पहचाना जिसका नाम था आवी सिफार्ड। आवी सिफार्ड एक पादरी था। सैनिकों ने सहज श्रद्धावश उसे निकल जाने को कहा। तब आवी सिफार्ड ने कहा, "यदि तुम लोग मेरे बदले उस तरुणी स्त्री को जाने दो जो गर्भवती है तो मुझे मरकर भी प्रसन्नता होगी। माना कि हम लोगों ने राजनियम भंग किया

है। किंतु उस स्त्री के गर्भ में पल रहे मासूम जीव को तो उसकी निर्दोषता का पुरस्कार मिलना ही चाहिए।'' दमनकारियों ने पादरी का प्रस्ताव माना या नहीं यह और बात है परंतु पादरी ने जिस करुणा और दयार्द्रता का परिचय दिया, उसने आवी सिफार्ड को इतिहास में अमर कर दिया।

जन्म लेने के कारण मृत्यु का होना तो निश्चित है। सामान्य व्यक्ति के लिए मृत्यु एक दुखदायी घटना है किंतु चरित्रवान—आदर्शों के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्ति मरण को भी त्योहार बना लेते हैं। युद्ध में बुरी तरह घायल होकर कराहने वाले फिलिप सिडनी को कौन भुलाएगा जिन्होंने एक घायल सिपाही की प्यास को अपने जीवन से भी अधिक महत्त्व दिया। घटना तो विख्यात है कि सिडनी को बड़े जोर की प्यास लगी थी और पानी के लिए कराहने पर एक प्याला जल लाया गया। इतने में एक और घायल सिपाही को वहाँ लाया गया। उसकी अतृप्त दृष्टि सिडनी के लिए लाए गए पानी के प्याले पर पड़ी। सिडनी ने यह देखकर पानी का वह प्याला सिपाही को देने का आग्रह किया और कहा, ''मेरी अपेक्षा उसे पानी की ज्यादा जरूरत है।'' इसके पश्चात ही उनके प्राणपखेरू उड़ गए। संभव है यदि उन्हें पानी पीने को मिल जाता तो वे कुछ घंटे और जी जाते किंतु तब शायद ही किसी को मालूम होता कि सर फिलिप सिडनी नामक कोई सैनिक अधिकारी भी हुए थे।

चरित्रवान व्यक्ति स्वयं अपना जीवन तो धन्य बना ही लेते हैं समाज में भी एक ऐसी स्वस्थ परिपाटी आरंभ कर जाते हैं कि उसका लाभ समाज को लंबे समय तक मिलता रहता है। रूसी राज्यक्रांति के समय, जब वहाँ के नागरिकों ने अत्याचारी और अन्यायी शासनतंत्र को उखाड़ फेंका था, तब क्रांति की तैयारियाँ चल ही रही थीं। मास्को के एक पादरी रेवरैंड मुलैन वर्ग ने अचानक ही अपनी जीवन दिशा बदल दी। जो आजीवन लोगों को शांति, क्षमा और ईसा की उस शिक्षा

का उपदेश देता रहता था जिसमें कहा गया था कि यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर तमाचा मारे तो तुम दूसरा भी उसके आगे कर दो—वह क्रांति की बात करने लगा। मास्को की एक धर्मसभा में रेवरैंड मुलैन वर्ग ने कहा, "हर एक चीज का एक समय होता है। धर्मोपदेश और प्रार्थना का भी एक समय होता है। पर अब वह समय नहीं है। समय बदल गया है और अब समय लड़ने का है, संघर्ष करने का है। हमें अन्याय से संघर्ष करना चाहिए।" यह कहकर उसने अपनी धार्मिक वेशभूषा उतार दी और क्रांतिकारी का वेश पहनकर धर्मसभा में आ गया। उसके इस कथन का लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि कुछ ही समय में उसके साथ क्रांतिकारियों का एक बड़ा दल हो गया। रेवरैंड मुलैन वर्ग ने पहले क्रांति में और फिर विश्वयुद्ध के समय जर्मन सेनाओं का मुकाबला करने में इतनी वीरता दरसाई कि उसे मेजर जनरल की उपाधि से विभूषित किया गया।

आदर्शों के प्रति निष्ठा—सामाजिक हितों के लिए उत्सर्ग का साहस व्यक्तित्व को इतना तेजस्वी बना देता है कि अनायास ही उस व्यक्ति के प्रति लोकश्रद्धा का उफान उमड़ने लगता है। जब किसी समाज या राष्ट्र पर संकटों के बादल घिर आते हैं तो जनसमुदाय ऐसे चरित्रवान, उत्साही और साहसी व्यक्तियों से ही मार्गदर्शन की अपेक्षा करता है और उसे अपना नेतृत्व सौंपता है। जब रोमन साम्राज्य पर संकट आया था तो शासन सभा के सदस्यों ने एक ऐसे व्यक्ति को व्यवस्था का सूत्र संचालन सौंपा था, जो सक्रिय राजनीति से संन्यास लेकर सामान्य जीवन व्यतीत कर रहा था। नाम था उनका सिनसिनेट्स। सिनसिनेट्स अपने तेजस्वी व्यक्तित्व और आदर्श चरित्र के बल पर एक बार पहले भी राज प्रमुख के पद पर पहुँच चुका था और वर्षों तक अपने राष्ट्र का नेतृत्व करता रहा था। जब संकट की घड़ियाँ आईं तो एक बार फिर सभासद उसके पास पहुँचे। उस समय सिनसिनेट्स अपने खेत में काम कर रहा था। सभासदों ने उसके सम्मुख समस्त

परिस्थितियों का विश्लेषण किया और उसे असीमित अधिकार दिए। राष्ट्रीय संकट की इन घड़ियों में देश की जनता ने उसके प्रति जो विश्वास व्यक्त किया, सिनसिनेट्स ने उस विश्वास को न केवल कायम रखा वरन उसे और भी पुष्ट बनाया। देश जब संकट के दौर को पार कर चुका, सिनसिनेट्स ने उत्तराधिकारियों को वापस अपने अधिकार सौंप दिए और स्वयं शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

सर्वविदित है कि अब से दो सौ वर्ष पूर्व अमेरिका ने जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में स्वतंत्रता प्राप्त की थी। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद वर्षों तक वाशिंगटन ने अमेरिका का शासनसूत्र सँभाला और बाद में राजनीति से विरत होकर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद अमेरिका और फ्रांस में युद्ध छिड़ा। उस विषम वेला में लोगों ने एक बार फिर वाशिंगटन को याद किया। अपने शासनकाल में जार्ज वाशिंगटन ने अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, सूझ-बूझ और चारित्रिक गुणों की ऐसी धाक जमा ली थी कि तत्कालीन प्रेसीडेंट मि. एडम्स ने उन्हें देश की बागडोर सँभालने के लिए कहा। उस समय के एक प्रमुख नेता ने उन्हें पत्र में लिखा था, "अमेरिका की समस्त जनता का आप पर पूरा विश्वास है। यूरोप का एक भी राज्य सिंहासन ऐसा नहीं है जो वाशिंगटन के चरित्र बल के सामने टिक सके।"

चरित्रवान व्यक्तियों की प्रामाणिकता पर हर कोई विश्वास करता है तथा उन्हें सम्मान देता है। यही नहीं उनके प्रति श्रद्धा भी लोगों के हृदय में उमड़ती रहती है। यह श्रद्धा ही उनकी मूल्यवान सामाजिक संपत्ति होती है। स्वामी विवेकानंद ने एक स्थान पर कहा है, "संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों द्वारा बनाया गया है जिनके पास चरित्रबल का उत्कृष्ट भंडार था। यों कई योद्धा और विजेता हुए हैं, बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट हुए हैं। किंतु इतिहास ने केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने हृदय में स्थान दिया है, जिनका व्यक्तित्व समाज के लिए एक प्रकाश स्तंभ का काम कर सका है।"

वस्तुत: इतिहास ने उन महापुरुषों का ही गुणगान किया है जिन्होंने अपने समाज को नए जीवन मूल्य, चरित्र के नए मानदंड दिए और आदर्शों की समयानुकूल परिभाषा अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व के माध्यम से की है। चरित्र मानवीय गुणों के उन समुच्चय का नाम है जो व्यक्ति के समग्र जीवन को आच्छादित करते हैं और जीवन तथा व्यवहार के सभी क्षेत्रों में उसे प्रमाणित सिद्ध करते हैं। इन दिनों अपने देश-समाज में स्वार्थपरता, बेईमानी, बदनीयती और भ्रष्टाचार व्याप्त है तो उसका मात्र यही कारण है कि जनमानस में चारित्रिक मूल्यों के प्रति आस्था नहीं है और उनकी अवहेलना की जाने लगी है। यह अवहेलना-उपेक्षा ही व्यक्तिगत प्रगति और राष्ट्र की उन्नति में दीवार बनकर खड़ी है। जब तक व्यक्ति उस दीवार को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करता, हमारे राष्ट्र की प्रगतिधारा मंद और अवरुद्ध ही रहेगी।

इस दिशा में शुभारंभ यहाँ से करना चाहिए कि अगर व्यक्ति महापुरुष नहीं बन सकता तो न बने किंतु चारित्रिक मूल्यों का अपने जीवन में समावेश करना तो आरंभ करे। माना कि प्रत्येक व्यक्ति हरिश्चंद्र की तरह सत्यवादी नहीं बन सकता किंतु अकारण बोले जाने वाले झूठ से तो बच सकता है। दधीचि की तरह अपनी अस्थियाँ परोपकार में लगाना प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव न हो परंतु दूसरों का बुरा करने से तो बचा जा सकता है और भलाई का कोई न कोई छोटा-मोटा काम भी करते रहा जा सकता है। ईमानदारी, कर्त्तव्य पालन, उदारता, सद्व्यवहार, परदु:खकातरता आदि ऐसे गुण हैं, जिनका अभ्यास छोटे रूप में भी आरंभ किया जा सकता है और चरित्र साधना के क्षेत्र में क्रमश: आगे बढ़ते रहा जा सकता है।

प्राय: समझा जाता है कि जैसे-जैसे साधन-संपदा बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे मनुष्य अपने आप को नैतिक दृष्टि से भी उच्च और सद्गुण संपन्न बनाता चला जाएगा। इस मान्यता का कारण यह है कि लोग समझते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों के हाथ में खेलने वाला बेबस

पुतला है। परिस्थितियाँ ही उसे अच्छा या बुरा बनाती हैं। यह सोचना गलत है। न तो मनुष्य परिस्थितियाँ अच्छी होने पर स्वत: अच्छा बनता और न ही परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर बुरा। गरीब से गरीब व्यक्ति भी यदि उसमें नैतिक गुणों के प्रति आस्था है तो परिस्थितियाँ लाख प्रतिकूल हों पतन की ओर नहीं बढ़ता और व्यक्ति कितना ही साधन संपन्न हो नैतिक दृष्टि से वह दुर्बल है तो कितनी ही अनुकूल परिस्थितियाँ हों वह पतन के गर्त में जाने से नहीं रुकता।

इस तरह की असंख्य घटनाएँ हैं जिन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सामने ऐसी परिस्थितियाँ थीं कि वह अपराध कर भी डालता तो उसके परिवेश को देखते हुए यह अस्वाभाविक नहीं था। लेकिन फिर भी वह विचलित नहीं हुआ। क्योंकि नैतिक दृष्टि से वह समर्थ और बलवान आत्मा का स्वामी था जिसने प्रतिकूल परिस्थितियों में उसे बुरे मार्ग पर चल पड़ने से बचा लिया। इसके विपरीत साधन संपन्न और बड़े लोग भी बड़ी-बड़ी चोरियाँ और बेइमानियाँ कर लेते हैं। जबकि उनके पास इतनी साधन-संपदा थी कि वे चाहते तो बिना बेईमानी किए भी उपलब्ध साधनों में मौज-मजे की जिंदगी गुजार सकते थे, लेकिन ऐसा नहीं रह सका।

यह तथ्य उस कथन को असत्य ही सिद्ध करता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है और परिस्थितियों के वशीभूत होकर ही, व्यक्ति पतन के मार्ग पर चलने के लिए विवश होता है। सर्वविदित और प्रख्यात मिसाल है कि राजा हरिश्चंद्र राजपाट खो जाने के बाद भी वचन के प्रति निष्ठावान और कर्त्तव्यपरायण रहे। अपने परिवार तक के लिए उन्हें कर्त्तव्य मर्यादा को एक पग लांघना स्वीकार नहीं हुआ। राणाप्रताप राजसिंहासन खोकर जंगलों में मारे-मारे फिरे, वे चाहते तो केवल मौखिक रूप से ही अकबर की अधीनता स्वीकार कर अपने लिए तमाम सुख-सुविधाएँ जुटा सकते थे। पर कथनी और करनी को एक समझने वाले राणाप्रताप को यह कहना मात्र भी स्वाभिमान

के खिलाफ लगा और उन्होंने अपने आदर्श के लिए आजीवन घास की रोटियाँ खाईं।

नैतिक आदर्शों के प्रति दृढ़ आस्था रखने और प्रतिकूल से प्रतिकूलतम परिस्थितियों में भी आदर्शों की राह न छोड़ने के असंख्यों उदाहरण हैं, वहीं साधन संपन्न होने के बावजूद भी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को अवांछनीय ढंग से पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहने वाले लोगों के भी कई एक उदाहरण हैं। राज-लिप्सा, धन-लिप्सा, सम्मान-लिप्सा, कीर्ति-आकांक्षा आदि कितनी ही इच्छाएँ हैं जिनसे प्रेरित और आकर्षित होकर व्यक्ति जिस-तिस ढंग से भी संभव हो उन्हें पाने के लिए लालायित रहता है।

संपन्नता आनी चाहिए, साधन भी बढ़ने चाहिए। भौतिक प्रगति का एकमात्र आधार भी यही है और विशुद्ध आध्यात्मिकता मनुष्य के भौतिक जीवन को पंगु नहीं बनाती वरन जीवन के उस पक्ष को भी सबल और सुदृढ़ बनाती है। भौतिक प्रगति को नकारकर उसे झुठलाकर वास्तविक प्रगति संभव है भी नहीं। क्योंकि जीवन न एकांगी भौतिकता का नाम है और न शुष्क आध्यात्मिकता का वरन वह भौतिक और आत्मिक जीवन की समुच्चय प्रगति का जोड़ है। धर्म की परिभाषा इसीलिए शंकराचार्य ने इस प्रकार की है—**यतो अभ्युदय: नि:श्रेयस काराबुभौ।** अर्थात जो लौकिक जीवन में कल्याण और (अभ्युदय) आध्यात्मिक जीवन में परम उत्कर्ष की उपलब्धि करा दे वही धर्म है।

अत: साधन संपन्नता बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति की चेतना का स्तर भी उन्नत और परिष्कृत होते जाना चाहिए। चेतना के परिष्कार की ओर यदि ध्यान नहीं दिया गया तो व्यक्ति की साधना संपन्नता ही उसे अध:पतित बना डालेगी। यह सोचना निरभ्रांति ही है कि परिस्थितियों पर मनुष्य की चेतना की दिशा निर्भर है। परिस्थितियाँ अच्छी हों तो व्यक्ति नैतिक दृष्टि से सुघढ़ और सुथरा होगा तथा परिस्थितियाँ यदि प्रतिकूल हुईं तो व्यक्ति की नैतिकता डाँवाडोल होगी। प्रतिकूल

परिस्थितियों में भी व्यक्ति अपने आदर्शों पर किस प्रकार दृढ़ रह सकता है, इसका प्रमाण राजा हरिश्चंद्र और राणा प्रताप जैसे पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन में देखा जा सकता है और दुर्बल चेतना साधन संपन्न स्थिति में भी किस तरह लड़खड़ा जाती है—यह हम आज के वैज्ञानिक युग में, जबकि साधनों का काफी विकास हो गया है देख सकते हैं।

पश्चिमी देशों में व्यापार व्यवसाय के लिए कंप्यूटर एक उपयोगी और आवश्यक उपकरण बन गया है। हिसाब-किताब रखने, रिकार्ड रखने, पूछने पर सही-सही जानकारी देने वाले इस उपकरण ने व्यावसायिक संस्थानों के काम को बड़ा ही आसान कर दिया है और कई व्यक्तियों के श्रम को बचाने में मदद की है। इस उपकरण के कारण लोग अन्य उपयोगी कार्यों में लग सके और विज्ञान की मदद से विकसित अन्य उपायों-साधनों द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक उपार्जन करने लगे। अर्थात विज्ञान के सहयोग से लोग पहले की अपेक्षा समृद्ध हुए हैं। परंतु समृद्ध होने के बावजूद भी लोगों में अपराधवृत्ति आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी है। सर्वाधिक संपन्न और धनवान देश अमेरिका में सबसे ज़्यादा चोरियाँ, डाकेजनी, लूटमार, अपहरण और बलात्कार तथा हत्याएँ जैसे अपराध होते हैं। कुछ समय पूर्व ही एक हिंदी पत्रिका ने कंप्यूटर द्वारा चोरियों का रोचक विवरण प्रकाशित किया था।

कंप्यूटर से किस प्रकार चोरियाँ होती हैं? इसके चार तरीके बताए गए। पहला तरीका था कंप्यूटर को सीधे गबन का आदेश देना, दूसरी रीति झूठी जानकारी देने की बताई गई है। तीसरी रीति के अनुसार बाहर का व्यक्ति भी चोरी कर सकता है और चौथा प्रकार चोरी के लिए जानकारी एकत्र करने के रूप में बताया गया है। स्टैनफोर्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट के डॉ. वी. पार्कन ने बड़ी खोज-बीन के द्वारा यह पता लगाया है कि कंप्यूटरों द्वारा इस समय अमेरिका में तीस करोड़

डालर प्रतिवर्ष चुराए जाते हैं अर्थात ढाई अरब रुपयों के लगभग। स्मरणीय है यह अनुमान केवल पकड़ी गई चोरियों के संबंध में ही लगाया गया है अन्यथा न पकड़े जाने वाली अज्ञात चोरियों की संख्या तो अधिक है।

कंप्यूटरों द्वारा चोरी करने के तरीके भी बड़े विचित्र हैं। बताया जाता है कि एक बार कैलिफोर्निया के एक एकाउण्टेण्ट ने अपनी कंपनी के कंप्यूटर को आदेश दिया कि कंपनी द्वारा खरीदे जाने वाले कच्चे माल का दाम असली मूल्य से बढ़ाकर नोट करे। उसके बाद उक्त एकाउण्टेण्ट ने एक फरजी कंपनी बनाई और कंप्यूटर में उसका खाता खोल दिया, तदुपरांत कंप्यूटर को आदेश दिया गया कि खरीद की बढ़ाई हुई रकम उस फरजी कंपनी के खाते में जमा की जाए। मशीन सो मशीन, उसने अपने चालक के आदेश का पालन किया और लगभग दस लाख डॉलर उसी फरजी कंपनी के नाम से गबन कर लिया।

इसी प्रकार सन् १९७२ में अमेरिका की एक ईक्विटी फंड कंपनी ने ३३ हजार पालिसियाँ बेचीं पर प्रबंधक ने कंपनी के कंप्यूटर को यही झूठी सूचना दी कि ९७ हजार पालिसियाँ बेची गई हैं। फलस्वरूप कंपनी के शेयरों की कीमत अंधाधुंध बढ़ गई और प्रबंधक ने काफी माल बनाया। सन् १९७४ में ही कंप्यूटर के माध्यम से बाहर के व्यक्ति द्वारा चोरी करने का एक रोचक विवरण प्रकाश में आया था। वहाँ की एक कंपनी के कर्मचारी ने नौकरी छोड़ने से पहले ऐजेन्सी के कंप्यूटर को अपने घर के फोन से संबद्ध कर लिया और नौकरी छोड़ने के बाद इस प्रकार गुप्त सूचनाएँ एकत्रित करने लगा तथा उन सूचनाओं को प्राप्त कर दूसरों को बेचता रहा। इस चोरी का रहस्योद्घाटन भी कंप्यूटर ने किया। इस प्रकार का संदेह होते ही मालिकों ने पूछा कि तुम गुप्त सूचनाओं की जानकारी किन-किन लोगों को देते हो तो कंप्यूटर ने भूतपूर्व कर्मचारी का फोन नंबर भी बता दिया।

इस तरह की चोरियों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अपराध न छोटे-मोटे पेशेवर चोरों ने किए तथा न ही कम पढ़े-लिखे लोगों ने वरन इस तरह की चोरियों में प्रायः उन्हीं लोगों का हाथ रहा जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न थे, शैक्षणिक दृष्टि से उच्च शिक्षा प्राप्त तथा पेशे की दृष्टि से संबद्ध संस्थानों में अच्छे पद पर और ऊँचे वेतन पर कार्यरत थे। अमेरिका ने एक बैंक के कंप्यूटर में इस प्रकार की व्यवस्था की जिससे वह आधे सेंट तक की गणना करने लगा। फिर कंप्यूटर को यह आदेश दिया गया कि वह आधा सेंट ग्राहकों को चुकाने के स्थान पर एक अलग खाते में जमा होता रहे। वह खाता जो कि फरजी रूप से खोला गया था उस अधिकारी का अपना ही खाता था। बैंक में तो हजारों ग्राहक प्रतिदिन आते हैं। आधा सेंट नहीं चुकाया जाता और बैंक के उनके खातों से भी निकल जाता। इस प्रकार वह अधिकारी कंप्यूटर की मदद से लाखों सेंट प्रतिवर्ष अपने खातों में जमा करवाता रहा।

एक कर्मचारी ने कंप्यूटर को अपने वेतन का चेक रोजाना छापने का आदेश दिया और इस तरह दो सौ चेक प्राप्त कर लिए। संयोगवश ही इस कांड का पता चल सका। एक अन्य कर्मचारी ने अपने कंपनी कंप्यूटर को यह आदेश दिया कि मेरे वेतन की रकम सौ गुना करके मेरे खाते में जमा करते जाना कंप्यूटर वैसा ही करता रहा। लेकिन जब कंपनी के प्रबंधक ने कंप्यूटर से यह पूछा कि कर्मचारियों ने अपने व्यक्तिगत खातों के संबंध में क्या आदेश दिए हैं तो कंप्यूटर ने यह बात भी बता दी।

अकेले कंप्यूटर द्वारा ३० करोड़ डॉलर की प्रतिवर्ष चोरी— विज्ञान की सहायता से मनुष्य करने लगा। यह तो केवल कंप्यूटर की बात हुई। टैप रिकार्डर, बिजली की चोरी, वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा तैयार किए गए फार्मूले तथा विषैली दवाएँ आदि अनेकानेक तरीके हैं। जिनका विवरण जानकर ही बुद्धि चकरा जाती है। इतना ही नहीं

परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, कीटाणु बम, मौसम को बदल देने के उपाय जैसे कई एक आविष्कार हैं, जिनके द्वारा मानव समाज सामूहिक आत्मघात की तैयारी कर रहा है।

वस्तुत: तो विज्ञान ही क्यों प्रत्येक साधन को हम तेज धार वाले चाकू के रूप में देख सकते हैं जिससे अपने दैनिक कार्यों में सहायता लेकर उनका लाभदायक उपयोग भी कर सकते हैं और उनसे किसी दूसरे की हत्या तथा आत्मघात जैसे जघन्य कर्म भी कर सकते हैं। साधनों और संपदाओं की वृद्धि अनावश्यक नहीं है पर यह तथ्य भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि अपना भौतिक स्तर उठाए बिना उन्हें अर्जित किए जाते रहना कोई सुख-शांति की स्थापना नहीं कर सकता। बल्कि वे एक ऐसे हथियार के रूप में भी प्रयोग किए जा सकते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य पशुता से भी पतित हो क्रूर दानव के स्तर तक जा गिरेगा।

कहने का अर्थ यह नहीं है कि परिस्थितियाँ नहीं बदलनी चाहिए और मनुष्य को वहीं तक सीमित रहना चाहिए जहाँ कि वह पहले था। बल्कि तात्पर्य यह है कि परिस्थितियाँ बदलने के साथ मन:स्थिति बदलने पर भी बराबर ध्यान देना चाहिए। परिस्थितियाँ नहीं, अपनी मन:स्थिति, मान्यताएँ, आदर्श, भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य को अच्छा या बुरा बनाती हैं। अत: साधनों के प्रयासों के साथ-साथ चेतना का परिष्कार और मान्यताओं में परिवर्तन आवश्यक है। तभी भौतिक दृष्टि से संपन्न और आत्मिक दृष्टि से सुख-शांतिपूर्ण सुव्यवस्थित समाज की संरचना हो सकती है।

❐

श्रेष्ठता के दो आधार
सादा जीवन, उच्च विचार

व्यक्तिगत जीवन में अभाव, निर्धनता और गरीबी हमारी नैसर्गिक सुख-शांति को नष्ट न कर सके इसके लिए क्या किया जाना चाहिए? उत्तर एक ही मिलता है हम अपनी आवश्यकताएँ इतनी ही रखें जिन्हें अपनी आय में ही पूरा कर सकें। 'तेते पाँव पसारिये-जेती लांबी सौर' वाली कहावत हर स्थिति में सुखी और संतुष्ट रहने का उपाय है। लेकिन इस सिद्धांत की केवल व्यक्तिगत उपयोगिता ही नहीं है वरन सामाजिक सुव्यवस्था के लिए भी यह सिद्धांत बड़ा उपयोगी है।

आवश्यकताएँ बढ़तीं तो उनकी पूर्ति के लिए अतिरिक्त साधन जुटाना भी जरूरी हो जाता है। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि व्यक्ति को अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अतिरिक्त श्रम करना पड़े या अपनी क्षमता से भी अधिक प्रयास करने आवश्यक हो जाएँ। आवश्यकताएँ जब बढ़ना शुरू हो जाती हैं तो वे किसी भी सीमा पर रुक नहीं सकतीं। यह भी जरूरी और वह भी जरूरी वाली स्थिति धीरे-धीरे बनने लगती है। इस संबंध में एक ब्राह्मण पुत्र की कथा प्रसिद्ध है जिसे राजा ने प्रसन्न होकर मनचाही वस्तु, धन, राज्य, पद जो भी चाहे माँगने की छूट दे दी और उस माँग को पूरी करने का वचन भी दिया था। इतनी बड़ी छूट मिल जाने पर ब्राह्मण पुत्र यही स्थिर नहीं कर सका कि क्या माँगू? उसने सोचा राजकोश से आजीवन एक बँधी हुई रकम ही माँग लूँ। अब वह बँधी हुई रकम भी निश्चित नहीं कर सका। सोचता रहा कि दस माँगू या बीस। यह संख्या पचीस, पचास, सौ, पाँच सौ, हजार, दो हजार, पाँच हजार और दस हजार तक होते-होते पूरे राजकोश को हथिया लेने तक पहुँच गई। राजकोश से क्या होगा क्यों न राज्य ही माँग लिया जाए!

और ग्राम, नगर, जनपद, प्रांत से समूचे राज्य पर ही दृष्टि जा पहुँची। उसने राज सिंहासन पर बैठने की इच्छा व्यक्त कर भी दी और राजा भी तत्काल देने को तैयार हो गया। पर ब्राह्मण पुत्र ने मनोरथों का कोई पारावार न होने की वास्तविकता का तत्क्षण ज्ञान होने पर फिर कुछ नहीं लिया।

वस्तुत: आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं मनोरथों से ही। मन कभी इस चीज को जरूरी बताता है तो कभी उस चीज को। और ये जरूरतें पूरी होने पर और नई जरूरतें उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए कहा गया है कि मनोरथों की कोई अंतिम सीमा नहीं है और इसी प्रकार उससे जनित आवश्यकताओं की भी नहीं। यह निश्चित रूप से कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु मिल जाने पर हम संतुष्ट हो जाएँगे और फिर कोई नई माँग नहीं रखेंगे।

लेकिन इस तथ्य से अनभिज्ञ लोग, भिज्ञ होते हुए भी व्यामोहग्रस्त हो अपनी आवश्यकताओं के विस्तार से नहीं चूकते और उन्हें पूरा करने के लिए हर उचित-अनुचित उपाय करते हैं। विश्व में जितने भी अपराध होते हैं, जितनी चोरियाँ, डकैतियाँ, हत्याएँ, खून और व्यभिचार होते हैं वे इसलिए नहीं कि आदमी अपराधों की ओर प्रवृत्त होता है वरन इसलिए होते हैं कि उनकी आवश्यकताएँ उनकी सामर्थ्य से परे की माँग होती हैं। और वह माँग इतनी जबरदस्त उठती है कि उसे पूरी न करने की क्षमता होते हुए भी व्यक्ति को उसकी पूर्ति के संबंध में सोचना व करना पड़ जाता है।

जैसे तीन सौ रुपये मासिक कमाने वाला व्यक्ति कार में बैठने की आकांक्षा को अपनी आवश्यकता समझता है। इतनी नितांत आवश्यकता कि उसके अभाव में सारा जीवन ही सूना सा लगे तो वह अधिक आमदनी के स्रोत ढूँढ़ने की चेष्टा करेगा। तत्काल उनकी प्राप्ति तो सहज संभव नहीं है और आवश्यकता अनुभूति का दबाव बढ़ने लगा तो अनैतिक उपायों का शॉर्टकट मार्ग ही दिखाई देगा। या

तो चोरी करेगा, सफेदपोश अपराध करेगा अथवा उसी तरह के ऐसे कार्य करेगा जिससे कि उसे अपनी आशा शीघ्र पूरी होती दिखाई दे।

बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि अपराधों के मूल में आवश्यकताओं का अनियंत्रित रहना ही है। अन्यथा जो लोग अपनी उपलब्ध आमदनी के अनुसार ही अपनी आवश्यकताएँ निर्धारित करते और उन्हें पूरा भी कर लेते हैं उन्हें इस मार्ग से हटकर पथभ्रष्टता की ओर जाने की क्या जरूरत ? ईमानदारी, नैतिकता, दूसरों के अधिकार की रक्षा और साधिकार चेष्टा की प्रवृत्तियों को रोकने के लिए एक-एक व्यक्ति को सादगी से रहना सिखाना पड़ेगा तथा उन्हें यह अनुभव कराना होगा कि इसी में वास्तविक सुख है। प्रत्येक व्यक्ति यदि यह अनुभव कर ले कि आवश्यकताओं को बढ़ाते रहना व्यक्तिगत रूप से शांति में आग लगाता है तथा सामाजिक जीवन को भी नष्ट-भ्रष्ट करता है तो लोगों को सादगी अपनाने के लिए तैयार करने हेतु अन्य अतिरिक्त प्रयास नहीं करने पड़ेंगे।

कुछ विचारक हैं जो सादगी को अव्यावहारिक सिद्धांत बताकर उसे प्रगति में बाधक बताते हैं। उनका कहना है कि यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर ले और उपलब्ध साधनों में ही संतोष कर ले तो मानवी सभ्यता की प्रगति ही रुक जाएगी। क्योंकि तब मनुष्य सृजन करना ही बंद कर देगा, प्रगति के लिए, साधनों के विकास के लिए प्रयत्न ही नहीं करेगा। वस्तुत: यह सोचने वाले विचारक सादगी के अर्थ को ही नहीं समझ पाते। सादगी का अर्थ न तो यह है कि आवश्यकताएँ पूरी हो जाने के बाद निश्चेष्ट बैठे रहा जाय और न ही यह कि वह और अधिक प्रगति के लिए प्रयास ही न करे।

सादगी का अर्थ वह मनोवृत्ति है जो अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार जीवनयापन करने में सुख मानती है। इसमें तुलसीदास का यह आत्मकथ्य अभावात्मक ढंग से प्रस्तुत है कि चाहते तो अमृत हैं पर छाछ (मठा) जुटाने में भी असमर्थ हैं, "चाहिए अमिय जग जुरई

न छाछी।'' अपनी आवश्यकताओं को इतना अधिक बढ़ा लेना कि वे उपलब्ध साधनों से पूरी न हो सकें असंतोष है और असंतुष्ट वृत्ति से प्रगति के प्रयास तो दूर यथास्थिति में ही सुखी और निर्द्वंद्व रह पाना ही असंभव हो जाता है। हमारे पास दस हजार रुपए की जमा पूँजी हो और एक छोटा सा मकान, वह भी पैतृक उत्तराधिकार में मिला है। और हम यह सोचें कि काश हम लखपति होते, हमारे पास मकान की अपेक्षा एक बढ़िया बंगला हो, पास में कार हो, नौकर-चाकर हमारी आज्ञाओं का पालन करने के लिए हर घड़ी हाथ बाँधे खड़े रहें और न केवल यह सोचें तथा आशा ही करें, वरन इन्हें अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण रूप से आवश्यक भी समझें तो कहना नहीं होगा कि हम उपलब्ध साधनों का आनंद भी नहीं उठा पाएँगे।

पैदल या बस द्वारा ही अपने कार्यालय तक पहुँचने वाला व्यक्ति जिसकी इतनी भर ही सामर्थ्य है अपने आस-पास दौड़ती कारों को देखकर हमेशा यही तो सोचेगा कि मेरे पास भी कार होनी चाहिए और मेरे पास भी बंगला तथा तमाम आधुनिक सुविधाएँ होनी चाहिए। असंतोष को साथ लेकर चलने वाला, कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाने वाला व्यक्ति यह सोचने लगे, यह अस्वाभाविक नहीं है। तो उसकी शांति, मानसिक स्थिरता, चैन, निर्द्वंद्व मन:स्थिति की पुष्टिकारक फसल उसी प्रकार नष्ट हो जाएगी जिस प्रकार कि किसी खड़े हुए लहलहाते खेत में ओलावृष्टि हो जाती है या फसल को पाला मार जाता है। ये ओले इच्छाओं के ही होंगे और पाला बढ़ी हुई आवश्यकताओं का ही। तो जिस व्यक्ति की मानसिक शांति तथा स्थिरता ही नष्ट हो गई होगी वह प्रगति तथा सृजन में किस प्रकार समर्थ हो सकेगा? मानवता के लिए उपयोगी तथा विकासशील उपलब्धियों में हमेशा ही उन लोगों ने योगदान दिया है जो उपलब्ध साधनों में ही संतुष्ट और सुखी रहना श्रेयस्कर समझते रहे हैं तथा अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाने के स्थान पर मानवता के हित चिंतन में लगे रहे हैं। कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाने

वाले तथा उन्हें जुटाने के तानों-बानों में ही उलझे रहने वाले लोग न तो समाज की प्रगति में कोई योगदान कर सकते हैं और न ही अपने निर्माण में सफल हो पाते हैं। क्योंकि उनकी समग्र शक्तियाँ तो एक से दस, दस से बीस, बीस से पचास और पचास से सौ के गोरखधंधे में लगी रहती हैं।

अत: संतोष का इतना ही अर्थ है कि उपलब्ध साधनों को प्रभु का वरदान मानकर उसके प्रति कृतज्ञता रखते हुए सुख-शांतिपूर्ण मन:स्थिति बनाए रखना तथा प्रगति के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना संतोषवृत्ति है, स्वभाव है जो सादगी के रूप में बाहर व्यवहार तथा जीवन में फलित होती है। दोनों का संबंध बीज और वृक्ष का सा है, जिसमें शांति, स्थिरता, सुख और आनंद के फल लगते हैं।

यह निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि सादगी से रहने वाला व्यक्ति ही समाज के विकास में योगदान दे सकता है। समूची यूनानी सभ्यता को लोग आज सुकरात और अरस्तू के कारण ही जानते हैं और उन दोनों महामानवों के संबंध में विख्यात है कि ये रोजमर्रा के जीवन में कितने मितव्ययी तथा अल्पसंतोषी रहे थे। अरस्तू के संबंध में तो कहा जाता है कि एक बार उनसे किसी ने पूछा, "आप थोड़े से साधनों और नहीं के बराबर संपत्ति में ही कैसे सुखपूर्वक रह लेते हैं? लोगों को अपनी आवश्यकताओं के साधन जुटाने से ही अवकाश नहीं मिलता और आप हैं कि कोई साधन न रहते हुए भी साधन-संपन्न लोगों से अधिक सुखी हैं तथा दार्शनिक चिंतन भी कर लेते हैं।"

अरस्तू का एक ही उत्तर था, "जहाँ तक आवश्यकताओं का संबंध है मैं उन्हें कम से कम ही रखता हूँ तथा उन्हें बढ़ाता भी नहीं। उनके औचित्य की मेरे पास एक ही कसौटी है और उस कसौटी पर जो खरी उतर आती है उन्हें ही पूरा करना उचित समझता हूँ अन्यथा उन्हें अपनी सूची से अलग हटा देता हूँ।"

पूछा गया, "वह कसौटी क्या है ?"

तो अरस्तू का कहना था, "बाजार से कोई भी वस्तु खरीदने से पहले मैं सोचता हूँ कि इस वस्तु के बिना भी मेरा काम चल सकता है अथवा नहीं। यदि इसके बिना भी काम चल सकता है तो उसे खरीदकर अपने समय और श्रम का अपव्यय क्यों किया जाय? और नहीं चल सकता है तो खरीदना ही चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार चलने के कारण ही मैं चिंतन साधना में अधिक से अधिक समय लगा पाता हूँ तथा मानवता की सेवा कर सकता हूँ। यदि आवश्यक सी लगने वाली अनावश्यक वस्तुएँ ही जुटाने में भी लगा रहूँ तो मुझे मनुष्यता की सेवा करने का अवसर ही न मिले।"

इस तरह की सादगी अपनाने से तो मनुष्य पुनः शताब्दियों पीछे का जीवन जीने लगेगा। विज्ञान ने जो साधन उपलब्ध कराए हैं, वे भी निरुपयोगी हो जाएँगे। क्योंकि सादगी अपनाने वाला व्यक्ति सोचेगा, "मोटर में बैठने से क्या फायदा पैदल भी तो चला जा सकता है, घड़ी बाँधना क्या जरूरी, जब घड़ी नहीं बनी थी तब भी लोग प्रतिदिन काम करते थे और बिना साबुन भी तो कपड़े धोए जा सकते हैं।"

सादगी का यह अर्थ नहीं है। विचारपूर्ण दृष्टि अपनाने पर मानव सभ्यता के आदिम युग में लौट जाने का भी खतरा नहीं है। इसके लिए हमें आत्यंतिक दृष्टि से परे रहकर विचार करना चाहिए। इस युग में महात्मा गांधी को सादगी की प्रतिमूर्ति कहा जाता है पर वे भी अखबार पढ़ते थे, घड़ी रखते थे, रेल में सफर करते थे। सादगी वस्तुओं या साधनों के उपयोग से नहीं रोकती, वह तो केवल दृष्टिकोण भर बदलती है तथा साधनों को और अधिक उपयोगी बनाती है।

हम सभी सोचते हैं सुविधा को केंद्र बनाकर। पर सादगी अपना पाने के बाद उपयोगिता को केंद्र बनाना पड़ेगा। मोटर से सफर करने में यदि घंटे भर की दूरी दस मिनट में तय होती है तथा शेष पचास मिनट में अन्य उपयोगी कार्य किए जा सकते हैं तो वह सादगी के अंतर्गत ही आ जाते हैं। वहाँ यदि मोटर की उपेक्षा की गई तो वह उपेक्षा भी सादगी का हनन करती है। क्योंकि सादगी अपनाने का मूल

उद्देश्य ही यह है कि हम अपनी कार्यक्षमता बढ़ा लें तथा अधिक से अधिक कार्य करें।

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, जब हम उनके आचार और विचार पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वे जीवन में जितना ही सादगी बरतते गए, विचार के क्षेत्र में उतना ही ऊँचा अपने को उठा पाए। विचारों की भूमि में ही कर्मों के पौधे फूटते हैं। अतः सत्कार्य के लिए सादा जीवन अत्यावश्यक है।

सज-धज और ठाठ-बाट की प्रक्रिया अपने आप में एक सामाजिक संक्रामक व्याधि है। इससे तीन प्रकार के लोग आसानी से शिकार हो जाते हैं—पहले वे हैं जो योग्य न होकर योग्यता का प्रदर्शन अपनी बाह्य सजावट से करना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के वे हैं जो अपनी असली स्थिति से अधिक सामाजिक सम्मान के आकांक्षी हैं। वे समझते हैं कि हमारी प्रतिष्ठा सभी जगह तभी होगी जब दिखावे आकर्षक हों। तीसरी श्रेणी के वे लोग हैं जो अपने बाह्य आडंबर से अड़ोस-पड़ोस को प्रभावित कर स्वयं को ईर्ष्या का विषय बनाना चाहते हैं। लेकिन जब हम ध्यानपूर्वक सोचते हैं तो पाते हैं कि ये तीनों प्रकार के व्यक्ति अपना ही अहित करते हैं। हाँ, यह सही है कि इसका दुष्प्रभाव इस श्रेणी के और लोगों पर भी पड़ता है।

देश की आर्थिक स्थिति किस स्तर की है यह विचारशील वर्ग से छिपा हुआ नहीं है। और अपने समाज की यह गतिविधि रोकी न गई तो विकास की गाड़ी किस गर्त में गिरेगी, यह भी सर्वविदित है। लोग दिखावट के लिए धोबी तक से उधार के कपड़े ले आते हैं। कर्ज लेकर फैशन की माँग-पूर्ति करना तो एक आम बात हो गई है। शादियों में तो उन्माद कुछ इस प्रकार चढ़ता है कि एक साधारण खाता-पीता आदमी भी अपने को मुगल बादशाह समझ बैठता है। फालतू की आतिशबाजी, झाड़-फानूस, नाच-गाना और हाथी तथा घोड़े पर चढ़कर पैसे छिटकाना कुछ ऐसी भोंड़ी हरकतें हैं कि इस पर एक समझदार व्यक्ति व्यथापूर्ण हँसी ही हँसेगा, प्रशंसा नहीं करेगा।

सभी जानते हैं कि लड़के वालों ने यह उछल-कूद मचा रखी है तथा दहेज को मुफ्त की रकम समझ रखा है क्योंकि उनकी अपनी गाढ़ी कमाई की। दैनिक जीवन में भी इतने अमीर हैं नहीं कि पैसा सदा इसी प्रकार लुटाते फिरें। अहंकारवश औकात छिपाने के लिए ऐसी बचकानी हरकतें की जाती हैं।

लेकिन पागलपन के तमाशे का परिणाम पूरे समाज को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से भोगना पड़ता है। अब सोचें कि जो व्यक्ति उपर्युक्त विधि से व्यय करता है, उस धन का उपार्जन किस रीति से किया गया है तो पता चलेगा कि या तो चोरी की गई या सरकारी पैसे का गबन किया है या घूस लिया है। और जब तीन तरीकों से न मिला हो तो किसी लड़की के बाप से ऐंठा होगा जो तीनों से भयावह है, कारण कि चोरी, घूसखोरी और गबन में समाज का एक विस्तृत भाग प्रभावित होगा, जबकि दहेज में अकेले बेटी के बाप की आर्थिक कमर टूटेगी। हाँ जब इन चार स्रोतों से धन नहीं मिलेगा तो कर्ज लेकर स्वयं को आर्थिक तंगी में फँसा लेगा।

अतएव अपने देश के शिक्षित समुदाय को जागरूक होना होगा। अँगरेजी भाषा सीखने के लिए यह कदापि अनिवार्य नहीं कि हम अपनी वेशभूषा भी बदल डालें। स्वयं अँगरेज हमारे सामने आदर्श उदाहरण हैं। उनका पहनावा हमारे गर्म देश के अनुकूल नहीं था, फिर भी अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को अपने में जीवित रखने के लिए किंचित कष्टकर अपने कपड़े ही पहनते रहे। फिर भी हम भारतीयों ने उनकी इस राष्ट्रीयता का उलटा अर्थ लगाया। होना यह चाहिए था कि हम भी अपनी राष्ट्रीय पोशाक का हृदय से सम्मान करते और किसी भी परिस्थिति में पहनने का अभ्यास डालते। जबकि हुआ यह है कि हमने अपने पहनावे की उपेक्षा कर स्वयं अँगरेजी पोशाक पहनना प्रारंभ कर दिया है। यह तथ्य है कि अपने देश की माटी पर जितना संतोष, शीतलता तथा जातीय गौरव का अनुभव धोती, कुरता और टोपी या पगड़ी में होता है उतना ड्रेन पाईप, वेल बोटम या किसी भी

विदेशी पोशाक में नहीं। हमारा अपना पहनावा जितना हमारे आंतरिक क्षेत्र में शांति स्थापित कर सकता है उतना दूसरी पोशाक कभी नहीं, भले ही दूसरे देश की जलवायु के लिए वे उपयुक्त हों।

आज फैशन की दौड़-धूप में हमारी बहनें तो पुरुषों से भी आगे निकल चुकी हैं। अपने देश की काली लड़की भी फेस-पाउडर लगाकर ऊपर से चटक लाल लिपस्टिक से होठ रँगकर किसी सर्कस की हास्य विदूषिका को भी मात देती है। शरीर पर अनावश्यक ढंग से तंग कपड़े पहनकर सड़क पर चलना कल के होने वाले सुभाष और गांधी को लुच्चा और लफंगा होने का खुला निमंत्रण है। हमारे देश की सीता और सावित्री के विमल चरित्र पर यह कलंक का टीका है। अतएव बच्चियाँ और बहनें अपने को ऐसे पहनावे से बचावें। समझदार माँ-बाप को यदि बच्चों का विरोध भी सहना पड़े तो भी अपने घरों में इस प्रकार की पोशाक को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। हमारे शिक्षण संस्थाओं के व्यवस्थापक और अध्यापक थोड़ा भी सतर्क हो जाएँ तो बीच सड़कों पर होने वाली बहुत सी अवांछनीय घटनाएँ अपने आप नियंत्रित हो जाएँ।

तड़क-भड़क और फजूलखरची दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कहीं अच्छी आय के गृहस्थ को भी यह रोग पकड़ ले तो परिवार का सारा आर्थिक संतुलन बिगाड़कर रख देगा। अनिवार्य आवश्यकताएँ तो धरी की धरी रह जाएँगी, बिना उपयोगिता की विलासितापूर्ण आवश्यकता पूर्ति की सूची बढ़ती चली जाएगी। इसका दुष्परिणाम भी तत्काल होगा। हमारी विकास की गाड़ी रुक जाएगी। जिन पैसों से बच्चों की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था हो सकती थी, वे फैशनेबुल कपड़े में खरच हो जाएँगे। जिनसे हम स्वास्थ्यवर्द्धक खाद्य पदार्थ खरीदकर परिवार के हर सदस्य को स्वस्थ और सबल बना सकते थे। वे दिखावे के दूसरे उपकरण खरीदने में चले जाएँगे। फल होगा कि आपके कुटुंब की गाढ़ी कमाई आनन-फानन में खरच हो जाएगी, भौतिक रूप में भी पिछड़े के पिछड़े रह जाएँगे तथा जिस

परिवार को इतनी आय में स्वर्गोपम होना चाहिए था, वह कलह का घर हो जाएगा।

जब हम अपने देश के इतिहास के पुराने पन्ने पलटते हैं तो पाते हैं कि महापुरुषों की एक बड़ी पंक्ति तड़क-भड़क से दूर एकदम सादा जीवन जीती रही है। बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गांधी और दयानंद में कौन ऐसा है जिसने ठाठ-बाट की जिंदगी बिताई हो। सम्राट चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री और राजनीति शास्त्र के प्रणेता चाणक्य तो नगर और महल छोड़कर सदा कुटिया में रहे। अत: जिन्हें अपने जीवन में कुछ कर गुजरना है तो सर्वप्रथम उन्हें अपनी आवश्यकताओं को कम करना पड़ेगा। इसमें हमें दोहरा लाभ होगा। प्रथम आर्थिक दृष्टि से हम सदा संतुलित बने रहेंगे तथा दूसरा यह कि हमारा नैतिक स्तर और मनोबल सदा ऊँचा बना रहेगा। परिणाम यह होगा कि हमसे जो भी काम होंगे वे सुंदर होंगे। अच्छे कामों के नतीजे अच्छे ही होंगे। सफल व्यक्ति को समाज अनायास ही सम्मान देता है। जिस सामाजिक सम्मान के लिए हम अपने को बंदर सा नकलची बना लेते हैं। वह सादा जीवन और उच्च विचार के मार्ग पर चलने से स्वत: मिल जाता है।

एक बात का सदा ध्यान रखा जाना चाहिए कि सादगी का समावेश हमारे जीवन में अंतरंग तथा बहिरंग दोनों में एक साथ हो। अर्थात केवल ओढ़ने-पहनने में तो सादा हो जा जाएँ लेकिन सज्जनता का केवल प्रदर्शन भर ही हो तो इससे तो आत्मिक विकास नहीं होता। बड़प्पन दिखाने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर कभी गप नहीं हाँकना चाहिए। क्योंकि सादगी और सात्त्विकता आध्यात्मिक महानता के एकदम निकटवर्ती पहलू हैं। इन्हें हम मानवता का गौरव समझकर अपनावें। और जब हमारे अंत:करण में आत्मगौरव के भाव उठेंगे तो सज्जनता और सादगी जीवन में अनायास सधते चले जाएँगे। अपने में ही विनिर्मित उच्च विचारों के समक्ष मनोविकार टिक नहीं पाएँगे। अत: बुद्धिमत्ता इसी में है कि मानव जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा न की जाय। ❐

अंत:करण पवित्र भावों से अनुप्राणित हो

दुष्कर्मों से मनुष्य के अंत:करण में अशांति, असंतोष एवं विक्षोभ पैदा होता है। अनेक सफलताओं के बावजूद भी आत्मग्लानि के कारण उसे आंतरिक सुख नहीं मिलता। बाहर से व्यक्ति को सफल और संपन्न माना जाता है पर वस्तुत: उसकी आंतरिक स्थिति असफल और दुखी ही बनी रहती है। इसलिए दुष्कर्मों से चाहे कितनी ही बड़ी सफलता मिलती हो उन्हें घृणास्पद मानना चाहिए। बुरे कर्मों के फल कभी भी सुखकारी नहीं हो सकते।

शुभ कर्मों में वह शक्ति है जिससे मनुष्य अल्प साधनों में भी सुख, शांति और संतोषपूर्वक जीवन का आनंद भोग सके। सांसारिक सफलताएँ भले ही न मिलें पर उस व्यक्ति का मनोबल, आत्मबल इतना ऊँचा होगा कि उसे किसी बात का अभाव महसूस न होगा। उसके जीवन में मस्ती होगी, वह निर्भय होगा, स्वावलंबी होगा। अनेक औरों का मार्गदर्शन कर रहा होगा।

शुभ कर्मों का शुभ फल अनिवार्य है, पर यदि उसका संपादन आत्मप्रशंसा के लिए हुआ तो फल में वह स्वच्छता स्थिर न रहेगी, जिससे आंतरिक शक्ति और संतोष प्राप्त होता है। यह बुराई अब सामान्य सी हो गई है। अच्छे कर्म अब केवल दिखावे के लिए ही होते हैं। एक तो उनका अभाव ही मनुष्य जीवन को छल रहा है उस पर जहाँ-तहाँ जो थोड़ी प्रवृत्तियाँ काम कर भी रही हैं उनमें भी दिखावे की प्रवृत्तियाँ इस तेजी से बढ़ गई हैं कि शुभ कर्मों से आत्मोत्कर्ष तथा लोक-कल्याण की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रहीं। उलटे अच्छे कर्मों के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न होती जा रही है। यह गंभीर बात है कि लोग काम थोड़ा करें और दिखावा अधिक। हृदय की प्रेरणा

वहाँ काम करती हुई नहीं दिखाई देती। इससे उन्हें सच्ची प्रशंसा भी नहीं मिल पाती। इससे उसके फल में भी कमी होना स्वाभाविक है।

शुभ कर्मों के साथ-साथ शुद्ध भावना का होना भी नितांत आवश्यक है। ऐसा न हुआ तो वह सत्कर्म भी अवसर मिलते ही, कुकर्म में परिवर्तित हो जाएगा और इस तरह भले कार्यों के प्रति लोगों के दिलों की निष्ठा नष्ट हो जाएगी। धर्मशालाओं, अनाथालयों, गौशालाओं आदि अनेक प्रवृत्तियों के पीछे लोगों की स्वार्थपूर्ण भावनाएँ काम किया करती हैं। बाहर से लोक-कल्याण का दिखावा मात्र होता है पर भीतर ही भीतर उन्हें आर्थिक साधन समझा जाता है और उन्हें लाभ प्राप्त करने का माध्यम मानकर काम किया जाता है। फलस्वरूप लोक-कल्याण की सच्ची प्रवृत्तियों का भी स्वरूप लोगों को नकली सा दिखाई दे रहा है। यह शुभ कर्मों के नाम पर सद्वृत्तियों को लज्जित करना है, इनका कोई ठोस लाभ नहीं मिल सकता।

शुभ कर्मों का आडंबर करने से कोई लाभ नहीं। इन्हें विचार और कर्मों में भली प्रकार स्थान देने वाला ही वास्तव में धर्मात्मा माना जाता है, ऐसे सुदृढ़ आधार पर जीवन की इमारत का निर्माण करना चाहिए। शुभ कर्मों की प्रतिक्रिया अंत:करण से उठनी चाहिए और यही आदर्श लेकर उसे लक्ष्य तक पहुँचना चाहिए। इसमें अपनी आत्माहुति ही क्यों न देनी पड़े! ऐसे सच्ची निष्ठा यदि संसार में एक व्यक्ति की भी हो जाती है तो वह समग्र विश्व में हलचल मचा देता है और बिना कहे हुए बहुतों की सेवा करता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है।

हरिश्चंद्र के हृदय में जो सत्यनिष्ठा जाग्रत हुई थी, वह आत्मप्रेरणा से प्रभावित थी तभी वे अनेक कठिनाइयों में भी नहीं झुके। जगद्गुरु शंकराचार्य ने अनेक कष्ट सहे पर आध्यात्मिक प्रशस्ति का पथ न छोड़ा क्योंकि उनका अध्यात्म प्रेम आंतरिक था। महात्मा गांधी ने आजादी की माँग स्वार्थवश नहीं की थी। हजारों लोगों की मुक्ति का प्रश्न ही उनके हृदय में जाग्रत हुआ था, तब उनमें यह शक्ति आई

जिसमें गोराशाही के मृत्युतुल्य कष्टों को वह हँसते-हँसते झेल गए। शुभ कर्मों के प्रति आत्मनिष्ठा हो तो उनकी पूर्ति का बल अपने आप आता है। साधन भी बनते हैं और परिस्थितियाँ भी साथ देती हैं। किंतु बिना परिश्रम, बिना कष्ट झेले बाहरी दिखावे से 'वाह-वाह' की इच्छा की जाती है तो दुर्बल हृदय मनुष्य उसमें देर तक खड़ा नहीं रह पाता और उसे अपयश एवं अनादर ही मिलता है। इसमें न केवल औरों की हानि होती है वरन स्वयं की भी खिन्नता और परेशानी बढ़ती है, ढोंग या अनाचार के कारण आध्यात्मिक पतन ही होता है।

फल तो मनुष्य की भावना के अनुसार मिलता है फिर दिखावे का कोई लाभ नहीं। बाह्य आडंबरों से कभी आंतरिक शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अच्छी प्रवृत्तियों को जीवन में धारण करने से पूर्व आपको यह विचार कर लेना होगा कि आप अंत तक उसमें स्थिर बने रहेंगे। दूसरों को अधर्माचरण से लाभ उठाते देखकर उसकी नकल करने को न ललचाएँ। काँटे में लिपटा हुआ आटे का टुकड़ा खाकर मछली की जो दशा होती है, जाल के नीचे फैलाये हुए अन्न के दानों को खाकर चिड़ियों की जो गति होती है, मांस की लालसा से हड्डी के साथ अपने ही जबड़ों का रस चूसने में कुत्ते की जो दुर्दशा होती है, वही दशा अनीति द्वारा लाभ उठाने वालों की होती है। इस प्रकार के मार्ग का अनुकरण करने की कोई बुद्धिमान और दूरदर्शी मनुष्य आकांक्षा नहीं कर सकता। करुणा वृत्ति, उदारता और अंत:प्रेरणापूर्वक किया हुआ थोड़ा सा कार्य भी फलदायक और सुखकारी होता है। सचाई का एक कण भी इतना स्वादिष्ट होता है कि उसकी तुलना बनावट से नहीं हो सकती। नकली फल देखने में सुंदर भले ही लगें किंतु उसमें कोई स्वाद नहीं होता।

इस युग में लोगों के दु:ख बहुत बढ़ गए हैं, इसका कारण यही है कि नकलीपन लोगों की नस-नस में समा गया है। खाद्यान्न से लेकर जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं में नकलीपन, दिखावा और मिलावट

बेहद बढ़ी है। बढ़िया से बढ़िया कपड़ों में लिपटे हुए शरीर को उघाड़कर देखें तो हड्डियाँ ही दिखाई देंगी। असंयम के कारण सूखे चेहरों पर कलई पोतने से आज तक किसी को सुंदरता नहीं मिली। हमारे जीवन का प्रत्येक अंग दिखावट मात्र रह गया है। भीतर ही भीतर असंतोष, अशांति और अभाव का घुन उसे खाए जा रहा है इसलिए आज लोग इतने दुखी दिखाई पड़ रहे हैं।

आत्मीयता का गहरा प्रेम संबंध जैसा पहले दिखाई देता था, वह अब स्वप्न हो गया है। मित्रता और प्रेम भी लोग स्वार्थवश करते हैं। शिष्टाचारवश अपने माता-पिता को रोटी देकर ही लोग अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। उनके कष्टों को, दु:खों और परेशानियों को मिटाने की रुचि किसमें है? हृदय में कायरता, मन में मैल, विचारों में वासना भरी पड़ी है इसलिए अब उस जमाने जैसी मातृभक्ति, भ्रातृत्व तथा गुरुनिष्ठा का पूर्ण अभाव सा हो गया है।

सचाई आत्मोत्थान की प्रमुख आवश्यकता है। हमारे जीवन में सादगी और सरलता को प्रचुर स्थान मिलना चाहिए। हम जो कुछ करें उसे आत्मिक लाभ की दृष्टि से करें तो लाभ की संभावनाएँ अधिक रहेंगी। सच्ची निष्ठा सदैव ही फलदायक होती है। गुणों को जीवन व्यवहार में फैलाना चाहिए। उनका दिखावा नहीं किया जाना चाहिए तभी समाज में सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिल सकता है।

'करना कम दिखावा अधिक' यह ओछे व्यक्तित्व का लक्षण है। लोगों को धार्मिक अश्रद्धा न हो जाय इस दृष्टि से शुभ कर्मों का दिखावा न करें तो ही अच्छा। धर्म और सदाचार के नाम पर बाह्य प्रदर्शन करने की अपेक्षा तो साधारण जीवन जीते रहना अच्छा है, इससे कम से कम विचार विद्रूप तो नहीं उत्पन्न होगा और समाज में गलत परंपरा को स्थान तो नहीं मिलेगा।

❐

गुणग्राही बनें, दुर्गुणों से दूर रहें

सभी चाहते हैं कि हमारे गुणों को दूसरे परखें, सम्मान करें। प्रशंसा के द्वारा मानव-हृदय जितना आकर्षित एवं आंदोलित होता है उतना और किसी प्रकार नहीं होता। प्रशंसा प्रोत्साहन का जादू सभी पर प्रभाव डालता है। वानर सीता को ढूँढ़ने गए, तो समुद्र तट पर जा सभी हिम्मत हार बैठे। तब जामवंत जी ने हनुमान को प्रोत्साहित किया। उनके गुणों की प्रशंसा की व स्मरण दिलाया। कुछ क्षण पहले तक असमर्थों की पंक्ति में बैठे हनुमान उठ खड़े हुए और समुद्र पार करने का असंभव काम कर बैठे। उद्दंड छोकरे शिवाजी को प्रोत्साहित कर समर्थ गुरु रामदास ने हिंदू धर्म की लाज रखने वाला बनाया। इतिहास में चमकने वाले अनेक उज्ज्वल रत्नों की उन्नति का श्रेय ऐसे लोगों को है, जिन्होंने उनके गुणों को परखकर उन्हें बढ़ावा दिया और मानव से महामानव बनाया। नरेंद्र जैसे उद्धत किशोर को परखकर श्री रामकृष्ण परमहंस ने उसे विश्वविख्यात विवेकानंद बना दिया।

गुण-ग्राहक व्यक्ति ही औरों में निहित सत्प्रवृत्तियों को पुष्ट कर पाते हैं। वस्तुतः गुण या दोष देखना अपने दृष्टिकोण पर ही निर्भर है। दूसरों की विकृति देखते फिरना अपनी आंतरिक कुरूपता का ही दर्शन है। मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण होता है, उसे यह विश्व वैसा ही दिखने लगता है। हरा चश्मा चढ़ा लेने पर चारों ओर हरा दृश्य, लाल चश्मा पहनने पर चतुर्दिक लाल दिखाई पड़ता है। गुण-ग्राहक व्यक्ति सभी जगह से गुण ढूँढ़कर उनका उपयोग कर लेना जानता है। बढ़ई जब किसी पेड़ को देखता है तो इसी दृष्टि से कि इसमें से काम का सामान क्या-क्या बनेगा?

आचार्य द्रोण ने शिष्य दुर्योधन को आस-पास के गाँवों में जाकर वहाँ के गुण संपन्न व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त करने भेजा, लौटने पर दुर्योधन ने कहा, "कहीं एक भी गुण संपन्न व्यक्ति नहीं है, सभी

में दोष-दुर्गुणों का ही बोलबाला है। गुणों का तो वे प्रदर्शन मात्र करते हैं।''

जब युधिष्ठिर को इसी कार्य के लिए भेजा गया, तो उन्होंने लौटकर सभी व्यक्तियों में गुण-गरिमा होने की बात कही। दोष-विकृतियाँ उन्हें अनुल्लेख जान पड़ीं, ये विभिन्न निष्कर्ष दुर्योधन की दोष-दर्शन तथा युधिष्ठिर की गुण-ग्राहक वृत्ति की भिन्नता के ही कारण निकले।

गुण-ग्राहकता का अर्थ दुष्ट-दुरात्माओं में भी श्रेष्ठताएँ आरोपित कर देना नहीं। अन्याय-अनीति का विरोध तो उचित है, धर्म है। पर ऐसे अत्यंत उग्र क्रूर-कर्माओं, जिनसे सुधारने की संभावना नहीं के बराबर रहती है, विरोध करने का साहस तो विशिष्ट मनस्वी-तपस्वी ही जुटा पाते हैं।

गुण-ग्राहक व्यक्तियों की सच्ची प्रशंसा और प्रोत्साहन से मुरझाए मन भी ऐसे ही हरे हो जाने हैं, जैसे मुरझाकर सूखने को हो रहे पौधे जल से सिंचित होते ही दूसरे ढंग के हो जाते हैं, उनकी गतिविधि ही बदल जाती है, कुम्हलाए पत्ते सचेत दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रशंसा का जल भी सूखे अंत:करणों में ही आशा और उत्साह का संचार करता है।

प्रशंसा का अर्थ झूठी चापलूसी करके किसी का अनुचित अहंकार उभारना नहीं। उससे भी तात्कालिक स्वार्थ सिद्ध होते हैं, किंतु अंतत: चापलूसी से मन में ग्लानि ही उत्पन्न होती है। फिर जिसकी झूठी चापलूसी की जाती है, उसका भी अनिष्ट ही होता है, उभरा हुआ अहंकार उसकी विवेक बुद्धि को कुंठित कर देता है और उससे अकरणीय, अनुचित कर्म कराता है। परिणामस्वरूप ठोकर लगती है। ठोकर लगने पर यदि उसकी आँखें खुल गईं तो फिर उसे वह चापलूस खुशामदी व्यक्ति अपना शत्रु ही दिखने लगता है।

गुण-ग्राहकता चाटुकारिता से सर्वथा भिन्न वस्तु है। चाटुकारिता में प्रवंचना और क्षुद्रता का भाव होता है या तो हीनता की भावना काम

कर रही है या ठगी की। जबकि गुण-ग्राहकता के पीछे उदार मानवीयता की प्रेरणा होती है।

प्रशंसा-प्रोत्साहन द्वारा अनेक व्यक्तियों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में सहायक बनने का सत्प्रयोजन पूरा किया जा सकता है। फिर यह भी हो सकता है कि कोई क्रियाशील व्यक्ति आपकी प्रशंसा-प्रोत्साहन पा, अभावों, प्रतिकूलताओं के बीच भी आगे बढ़ने का साहस नए सिरे से जुटा ले और उन्नति के प्रकाशपूर्ण पथ पर चलता हुआ एक दिन ऊँची चोटी पर जा पहुँचे। इस महान कर्म-साधना में आप भी अनायास ही पुण्य के भागी बन बैठेंगे।

अनेकों ऐसे लोग जो व्यक्तिगत रूप से उन्नतिशील होते हैं और जिनमें योग्यता के अंकुर विद्यमान होते हैं, समीपी की झिड़क, तिरस्कार और उपेक्षा के कारण दब जाते हैं, उनका मन मर जाता है और वे धूल में सने पड़े रहना, जैसे-तैसे जिंदगी की गाड़ी घसीटते रहना ही अपनी नियति मान बैठते हैं। उनके गुणों की यदि परख की जाय, प्रशंसा-प्रोत्साहन के दो शब्द उनके कानों में डालने की कंजूसी न की जाय, तो इन्हीं थोड़े शब्दों का रस ही उनके अंत:करण को ऊँचे स्तर की तृप्ति देते हैं कि उनकी सारी थकान मिट जाती है, स्फूर्ति और उमंग उमड़ पड़ती है। प्यासे पथिकों की तृषा दूर करने के लिए प्याऊ लगवाने, कुआँ-बावड़ी बनवाने, निराश्रितों को सर छिपाने के लिए धर्मशालाएँ बनवाने, भूखों को भोजन देने की सदावर्त खुलवाने, निर्धन रोगियों के लिए परमार्थ-औषधालय खुलवाने जैसे उदारतापूर्ण और प्रेमपूर्ण पुण्य-कार्यों से गुणों के प्रोत्साहन का धर्म-कार्य कम नहीं, अधिक ही प्रभाव-परिणाम उत्पन्न करने वाला है। यदि आप दूसरों के मुरझाए हृदयों को सींचने का, कानों की राह आत्माओं को अमृत पिलाने का धर्म-कार्य करते हैं, तो परोपकारी मेघों जैसे ही श्रेय के भागी हैं। पुण्यकर्म से अनेकों के अंत:करण की तृषा तृप्त होती है, उन्नति के रुद्ध स्रोत खुल जाते हैं, अविकसित सद्वृत्तियाँ प्रस्फुटित हो जाती हैं,

छिपी योग्यताएँ जाग्रत हो जाती हैं और निराशा के अंधकार में उन्हें पुनः आशा का दीपक जगमगाता दृष्टिगोचर होने लगता है। सच्ची गुण-ग्राहकता और प्रोत्साहन की मधुर वाणी से सींचने पर असंख्य अतृप्त, क्लांत हृदय हरे-भरे, स्वच्छ, उत्फुल्ल हो सकते हैं। उनके सद्‌गुण वर्षा काल में वनस्पतियों की तरह तीव्रगति से बढ़ने फलने-फूलने लग सकते हैं। स्पष्ट है कि यह गुण-ग्राहकता, सच्ची प्रशंसा और प्रोत्साहन उच्चकोटि का पुनीत धर्म-कार्य है। ❐

व्यक्तित्व का शृंगार—सद्गुण

व्यक्तित्व एक दर्पण है। जैसे हम हैं शीशे में हमें अपनी शक्ल वैसी ही दिखाई देगी। इसी तरह मनुष्य के भाव-भंगिमा रूपी शीशे को देखकर उसके आंतरिक मनोभावों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। किसी भी व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व से ही पहचाना जाता है। बीज की भाँति मनुष्य के अंतराल में सारी चीजें छिपी रहती हैं। जिस चीज का बीज होगा उसमें वैसा ही वृक्ष निकलेगा। आम का बीज है तो बबूल का वृक्ष कहाँ से निकल सकता है? उसी तरह से मनुष्य का चिंतन जैसा होगा वैसा ही उसका चरित्र होगा, उसी दिशा में वह बढ़ेगा, उन्नति करेगा, वैसा ही उसका जीवन बनेगा, मनुष्य जीवन की मूल जड़ उसका चिंतन है क्योंकि व्यक्तित्व रूपी साँचे में ढलकर ही मनुष्य जीवन बनता है। अत: यदि जीवन को उच्च बनाना है तो आवश्यक है कि हम पहले व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बनाएँ। श्रेष्ठ व्यक्तित्व ही दिव्य जीवन की निशानी है।

मनुष्य की चारित्रिक विशेषताएँ उसके व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं, अर्थात व्यक्ति के गुण-कर्म-स्वभाव से उसके व्यक्तित्व की जाँच की जा सकती है। गुण-कर्म-स्वभाव इन तीनों में परिष्कार लाने से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है और निखरा हुआ व्यक्तित्व ही आकर्षक प्रतीत होता है।

अंतर और बाह्य दोनों स्तरों के सम्मिश्रण से पूर्ण व्यक्तित्व बनता है। आंतरिक सुधार के साथ-साथ यह आवश्यक है कि भौतिक जीवन के दैनिक कार्यक्रमों में भी उत्कृष्टता बनाए रखें।

पहनावे-उढ़ावे से भी व्यक्ति का व्यक्तित्व पता चलता है। वस्त्रों का प्रभाव दूसरों की अपेक्षा हमारे ऊपर अधिक पड़ता है। इसका प्रभाव हमारी भौतिक स्थिति पर ही नहीं चरित्र पर भी पड़ता है। जैसे साफ अंत:करण व्यक्ति को ऊँचा उठाता है वैसे ही साफ

कपड़े नैतिक साहस को बढ़ाते हैं। कपड़े गंदे हैं तो उससे व्यक्ति का फूहड़पन प्रकट है, उसकी अकर्मण्यता का बोध होता है किंतु साफ-सुथरे कपड़ों से यह पता चलता है कि व्यक्ति सभ्य एवं सुसंस्कृत है। चेहरे की खूबसूरती से ही व्यक्तित्व आकर्षक नहीं बनता है। आकर्षक व्यक्तित्व की कुंजी तो बाह्य और आंतरिक सुंदरता में निहित है।

मनुष्य की सफलता इसी में निहित है कि उसका व्यक्तित्व कितना श्रेष्ठ है? व्यक्तित्व अच्छा होगा तो लोग भी उसकी सहायता करेंगे, स्वत: ही उसकी ओर झुकेंगे, उसकी उन्नति का द्वार खुलता जाएगा। व्यक्ति को कितनी सफलता मिली इसका श्रेय इस बात पर निर्भर है कि उसके कितने मित्र हैं? यदि व्यक्ति जीवन में सफलता एवं सहयोग चाहते हैं तो उन्हें व्यक्तित्व के परिष्कार को महत्त्व देना चाहिए। डाकू भी अगर अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र को सुधार ले तो वह कल सज्जन बन सकता है।

आकर्षक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह नीरसता नहीं सरसता लिए हुए हो। यह सरसता अपने अंदर धारण करने से उत्पन्न होती है, प्रसन्न मुख रहने वाले व्यक्ति की ओर सभी आकर्षित होते हैं। जो रोनी सूरत बनाए रहता है उसके पास कोई फटकना पसंद नहीं करता, नीरस व्यक्ति के मुख का सौंदर्य भी विकृत हो उठता है। हँसना एक गुण है जिसका व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं चरित्र पर प्रभाव पड़ता है।

मनुष्य अपने अंत:करण का प्रतिबिंब है। प्रसन्नता से पता चलता है कि व्यक्ति का मानस स्वस्थ है। स्वाभाविक मुस्कान से मन का भार हलका हो जाता है। दु:ख की स्थिति में भी मुस्कराने वाला व्यक्ति अपने मन को शुभ भावनाओं एवं सद्विचारों से आच्छादित रखता है। हँसना सब जीवों में मनुष्य जाति की ही एक बड़ी विशेषता है। यह ईश्वर द्वारा मनुष्य को इसलिए दी गई है कि वह क्षण भर में अपने दु:ख-दरद से मुक्ति पा सके।

हँसने से मनुष्य शांत चित्त रहता है। इससे उसका जीवन भी सरलता से उच्चकोटि का बनता चला जाता है। इससे न केवल व्यक्ति का व्यक्तित्व उच्च बनता है वरन उसका स्वास्थ्य भी ठीक-ठाक रहता है। मुस्कान एक ऐसी औषधि है जिससे व्यक्ति के शरीर में स्फूर्ति एवं शक्ति आती है। कार्य में उत्साह उत्पन्न होता है जो हमारे व्यक्तित्व के गठन में सहायक है। गंभीरता व्यक्ति के लिए आवश्यक है किंतु इससे भी अधिक आवश्यक प्रसन्नता है। प्रसन्नता एवं गंभीरता के मिश्रण से ही व्यक्तित्व पूर्ण मुखरित होता है।

अभावग्रस्त व्यक्ति भी सदैव मुस्कराते रहने का गुण अपनाकर जीवन को स्वस्थ एवं सुखमय बना लेते हैं। महापुरुषों ने प्रसन्न रहकर ही जीवन में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेला है। उनका दमकता हुआ प्रखर व्यक्तित्व लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। प्रसन्नता मनुष्य जीवन को हलका-फुलका बनाती है।

व्यक्तित्व को प्रसन्नता से ओत-प्रोत रखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति क्रोध, कटुवचन, ईर्ष्या, निंदा, चिंता, दुर्भावना, उदासीनता असहिष्णुता आदि से दूर रहें। ये व्यक्तित्व एवं चरित्र के विकास में बाधक हैं। व्यक्तित्व को बनाने के लिए हमें अपने अंदर गुणों को धारण करना चाहिए, अवगुणों को नहीं।

प्रकृति के अणु-अणु में प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है। खिले हुए फूल कितने सुंदर दिखाई देते हैं। वायु मंदगति से चलती है। झरने और नदियाँ कल-कल स्वर से प्रसन्नता व्यक्त करती हुई अनवरत बहती जाती हैं। प्रातःकाल पक्षियों के मधुर स्वर में कोलाहल करने से यह प्रतीत होता है कि प्रकृति हमें सदैव प्रसन्न रहने की शिक्षा देती है। हँसी व्यक्ति में प्राणशक्ति का संचार करती है जो व्यक्ति को गतिशील एवं उन्नतिशील बनाती है।

मुस्कान व्यक्ति को अनेक समस्याओं से छुटकारा दिलाती है। स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। हँसने से मांसपेशियों का व्यायाम हो जाता

है। सारे शरीर में खून का संचार होता है, गतिशीलता बनी रहती है। जीवन को मधुमय, नीरोगी, सुखी एवं व्यक्तित्व को आदर्श बनाना हो तो प्रसन्नता को अपना सच्चा मित्र बनाना चाहिए।

प्रसन्नता के साथ-साथ अन्य महत्त्वपूर्ण गुणों को अपने में विकसित करना चाहिए जिससे व्यक्तित्व सौंदर्य पूर्ण हो, गुणों का विकास ही व्यक्तित्व के आकर्षण का केंद्रबिंदु है। हमारे गुण-कर्म-स्वभाव कितने उच्चकोटि के होंगे उसी के अनुरूप हमारा व्यक्तित्व बनता चला जाएगा। हममें नम्रता और सौम्यता होनी चाहिए। इससे भी दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इससे अनेक दुर्गणों से बचे रहते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि अनीति या गलत बात के सम्मुख भी हमें अपने स्वभावानुकूल झुक जाना चाहिए। नम्रता वह गुण है जिसके सहारे हम दूसरों को अपने में घुला-मिला सकते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने को वर्तमान स्थिति के अनुकूल बना सकते हैं किंतु अकड़ वाला जिद्दी व्यक्ति दूसरे की उपेक्षा एवं घृणा ही प्राप्त करता है। लोग उससे बात करना पसंद नहीं करते, उसको किसी की सहानुभूति प्राप्त नहीं होती है फलत: उसका किसी क्षेत्र में समुचित विकास नहीं हो पाता है।

व्यक्तित्व के विकास के लिए दृढ़ता एवं लगन का होना भी आवश्यक है। दृढ़ता एवं स्थिरता चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है। व्यक्ति किसी कार्य को एकाग्रचित एवं दृढ़ता से करता है तो वह कार्य इतना सुंदर बन जाता है जितनी कि आशा भी न थी। इसी मनोवृत्ति के सहारे महापुरुषों ने बड़े-बड़े काम किए जिनसे संसार अचंभित है किंतु जिनकी कर्त्तव्य के प्रति लगन एवं दृढ़ता नहीं होती उन्हें किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती। सभी प्रयास अधूरे पड़े रहते हैं। सोचने का ढंग भी मनुष्य के चरित्र-विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे उसके विचारों की ही प्रेरणा होती है, विचारों के अनुसार ही व्यक्ति के बोलने-चालने, देखने का ढंग भी होता है।

मनुष्य जीवन का प्रत्येक भाग उसके मस्तिष्क में उठने वाले विचारों से प्रभावित होता है। विचार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को विनिर्मित करते हैं। जैसे विचार होंगे वैसा ही चरित्र बनेगा और जैसा चरित्र होगा वैसा ही व्यक्तित्व बनेगा।

मानवी विकास का अगला चरण है—अंत:करण को भाव-संवेदनाओं से अभिपूरित करना। इसके लिए दूसरों की सहानुभूति अर्जित करनी पड़ती है। सहानुभूति मनुष्य की आंतरिक शक्तियों में से एक है। सहानुभूति मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली वह कोमलता है, जिसका निर्माण संवेदना, दया, प्रेम और करुणा के सम्मिश्रण से होता है। वह आत्मा की नि:स्वार्थ भाषा है जिसकी वाणी मूक है किंतु हर हृदयवान उसे समझ लेता है। जीवन में मानसिक, शारीरिक या अन्य उथल-पुथल पैदा होने का कारण ही यही है कि हम उपर्युक्त शक्तियों को सत्यतापूर्वक न अपनाकर उनका निरादर भी करते हैं।

विधाता की बनाई अद्‌भुत कृति, मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो बगैर दया, प्रेम या करुणा के जीवन को ज्यादा समय तक नहीं चला सकता फिर सहानुभूति तो इन सबका सम्मिश्रण है उसके अभाव में तो निश्चित ही कुछ खोया-खोया सा लगेगा।

प्रेम, दया एवं करुणा ऐसे मानवीय गुण हैं कि इनके अभाव में एक पल चलना भी भारी हो जाता है किंतु आज का विचारवान मनुष्य इस पर गहन रूप से ध्यान नहीं देता है। प्रेम के अभाव में जीवन वीरान हो सकता है। करुणा, दया, सहयोग के अभाव में समाज या परिवार का ढाँचा भी नहीं बन सकता।

एकांत मनुष्य को पागल बना देता है। मनुष्य स्वभाव एकांत में रह नहीं सकता, एकाकी मनुष्य की शक्ति भी बड़ी सीमित और स्वल्प होती है इसलिए मनुष्य से यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि वह केवल अपनी ही सोचे या बात करे बल्कि असमर्थ को समर्थवान बना दे यह

अपेक्षित है। यही महानता का द्योतक है। जो गिरों को उठा लेता है, उठे हुओं को उठाना उतना कठिन नहीं है।

हर मनुष्य सहानुभूति का भूखा होता है। दुःख में संवेदना, दया किसी कीमती दवा से कम नहीं है। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने इस पर शोध कार्य करने भी शुरू कर दिए हैं। दया, करुणा, ममता, प्रेम आदि का हमारे मन एवं स्वास्थ्य पर असर पड़ता है। आपत्ति के समय प्रेम के, सांत्वना के दो शब्द शांति देते हैं। इसका अनुभव हर व्यक्ति को होगा। इतना आभास या विश्वास कि किसी की सहानुभूति मेरे से है, यह अनुभव मात्र मनुष्य को साहस प्रदान करता है चाहे शारीरिक या आर्थिक भौतिक रूप में वह सहानुभूति प्रकट हुई हो या नहीं?

कई प्रसंग ऐसे आते हैं जब हम यह कहते हुए पाए जाते हैं कि अरे आपके आने से एकदम वातावरण में महक आ गई। आपके शब्दों से शांति मिली, साहस मिला। यह प्रसंग बताते हैं कि सहानुभूति, प्रेम, दया की मूक भाषाएँ मन और मस्तिष्क पर गहन असर डालती हैं। जिनका हमारे स्वास्थ्य से भी गहरा संबंध है। दुःख में हमारी भूख मर जाती है खुशी के समय हम दो रोटी ज्यादा खाते हैं। यह सिद्ध करता है कि इन महान विचारों और गुणों का शरीर पर, मन पर कितना गहन असर पड़ता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सहानुभूति लेने और देने वाले दोनों की उम्र बढ़ती है। वह हृदय को शक्ति और भावनाओं की विशालता प्रदान करती है। कुत्तों और बिल्लियों पर प्रयोग किए गए, उनसे यह सिद्ध हुआ कि सहानुभूति का स्पर्श होते ही फेफड़े गर्म हो जाते हैं, धमनियाँ अपने स्वाभाविक ताप पर स्थिर होने लगती हैं। रक्त का रंग निखरने लगता है।

कन्फ्यूशियस, फ्रांसिस, बेकन तथा माओत्से तुंग आदि ने प्रारंभ में सहानुभूति को ठगा जाने वाला तत्त्व माना था किंतु बाद में जब

जीवन के तत्त्वों और सत्यों की गहराई में उतरे तो पता चला कि मनुष्य केवल सहानुभूति के कारण जिंदा है।

सहानुभूति के बारे में ऐसा काक्स ने लिखा है कि जब दूसरों की तरफ देखो तो नम्रता से काम लो पर जब अपनी तरफ देखो तो सख्ती से काम लो। मनोविद्याविशारद गोवानियाँ लिखते हैं कि सहानुभूति की भावना मानसिक उत्थान की बड़ी प्रेरक शक्ति है, मानसिक रोगों की बड़ी भारी दवा है।

सहानुभूति प्रेम से बड़ी चीज है। प्रेम प्रतिदान माँगता है। सहानुभूति उससे भी की जा सकती है जो हम से नहीं करते। संसार से कष्टों से पीड़ित वर्ग सहानुभूति के मरहम से प्रगति कर रहा है। आत्मसंतोष एवं प्रेम पाने के लिए सहानुभूति सबसे अचूक उपाय है। जिस हृदय में सहानुभूति होती है, वह महान है और जो इसे प्रदान करता है वह उससे भी महान है।

❐

समस्त दुर्गुणों का मूल कारण अहंकार

इस संसार की हर वस्तु में अच्छाई के साथ-साथ कुछ बुराई भी मिलती रहती है। कोई व्यक्ति या वस्तु यहाँ ऐसी नहीं बनी जिसमें न्यूनाधिक मात्रा में गुण-दोष का समावेश न हो। प्रत्येक अच्छाई अपने साथ कछ बुराई छिपाए रहती है और प्रत्येक बुराई के पीछे कुछ अच्छाई का भी तत्त्व छिपा रहता है। सफलता और असफलता के बारे में यही बात लागू होती है। यों आमतौर से हर आदमी सफलता चाहता है और उसे प्राप्त कर प्रसन्न होता है, असफलता में हानि एवं खिन्नता अनुभव होती है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि इच्छापूर्ति में सुख और उसमें पड़ी हुई बाधा को दुःख माना गया है।

इतना होते हुए भी सफलता में कुछ हानि और असफलता में कुछ लाभ भी होता है। असफलता हमें भूलों पर विचार करने का मौका देती है और यह सिखाती है कि हम जहाँ गलती करते रहे हैं, वहाँ अधिक ध्यान दें और उसमें सुधार करें। असावधानी बरतने और अधूरे मन से काम करने पर आमतौर से काम बिगड़ते हैं। श्रम से जी चुराने, आलस में पड़े रहने, समय-कुसमय का ध्यान न रखने से भी असफलता की संभावना बढ़ जाती है। कटु स्वभाव और अशिष्ट व्यवहार से भी दूसरे लोग चिढ़ते हैं और असहयोगी बनते हैं। ऐसी दशा में भी अपनी इच्छापूर्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। असफलता मिलने पर आमतौर से मनुष्य दूसरे पर उसका उत्तरदायित्व डालकर स्वयं निर्दोष बनना चाहता है पर बुद्धिमत्ता का अंश जब जाग्रत रहता है, तब वह यह भी सोचता है कि मेरी भूल कहाँ-कहाँ रही और उसे सुधारा जाय।

जिस प्रकार ऊधम मचाने और बताए हुए काम न करने पर बच्चे को धमका देने पर वह रुकता, सोचता और बदलता है, उसी प्रकार

असफलता रूप दैवी फटकार पड़ने पर मनुष्य को यह भी सोचना पड़ता है कि उसके लिए क्या करना उचित और क्या करना अनुचित था?(सरफेस टेन्सन) अपनी गतिविधियों को सुधार लेने पर जहाँ बिगड़े काम के बनने की संभावना बढ़ जाती है, वहाँ सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य को अपनी आदतों और गतिविधियों में सुधार करने का अवसर मिलता है। यह सुधार उस बिगड़े काम को बनाने में ही सहायक नहीं होता वरन भविष्य के लिए सफलताओं का एक व्यवस्थित शिक्षण देकर प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त कर देता है।

सफलता की अच्छाई सर्वविदित है ही। उससे अभीष्ट लाभ प्राप्त होता है, दूसरे प्रशंसा करते हैं, अपना हौंसला बढ़ता है, आदि लाभों को हम सब भलीभाँति जानते हैं और इसलिए उसे चाहते तथा पसंद भी करते हैं। पर उसमें एक छोटी बुराई भी छिपी रहती है, यदि उसकी ओर से असावधान रहा जाय तो वह हानिकारक भी सिद्ध होती है। इस बुराई का नाम है, मद या अहंकार। सफलता पाकर मनुष्य इतराने लगता है, वह अपनी औकात भूल जाता है, एक सफलता को पाकर वह यह सोचने लगता है कि मुझसे बड़ा बुद्धिमान, चतुर और पुरुषार्थी कोई नहीं, मैं हर दिशा में चुटकी बजाते सफलता प्राप्त कर सकता हूँ।

आत्मविश्वास होना अलग बात है। वह एक आत्यंतिक गुण है पर अहंकार तो उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। मोटे रूप में आत्मविश्वास तथा अहंकार एक से दीखते हैं पर उनमें जमीन-आसमान जैसा अंतर रहता है। कायरता और अहिंसा बाहर से दीखने में एक सरीखी लगती हैं पर उनकी मनोदशा में दिन-रात जैसा भेद रहता है। आत्मविश्वासी आत्मा की महत्ता मानते हुए भी सावधानी, परिश्रम, अध्यवसाय, परिस्थितियाँ, दूसरों का सहयोग, जागरूकता आदि बातों पर ही सफलता को अवलंबित समझता है और सफलता-असफलता की परवाह न करके अपने सुनिश्चित पथ पर मजबूती से पैर बढ़ाता हुआ चला जाता है।

आत्मविश्वास का अर्थ है—अपने कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ रहना और कठिनाइयों से तनिक भी विचलित न होना। अहंकार इससे भिन्न वस्तु है। इसे 'मद' इसलिए कहा गया है कि नशीली चीजें खाकर जिस प्रकार उन्मत्तता आ जाती है, उसी प्रकार एक छोटी सफलता पाकर मनुष्य सोचने लगता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, मुझमें कोई त्रुटि नहीं, मेरी बुद्धि सारी दुनिया से बढ़कर है। जो चाहूँ सो चुटकी बजाकर पूरा कर सकता हूँ। छोटी स्थिति के आदमी जिनके दिल और दिमाग छोटे होते हैं—कोई मामूली सा लाभप्रद श्रेय या महत्त्व पाकर इतराने और बौराने लगते हैं। उनकी अकड़, उद्दंडता और अशिष्टता के रूप में चेहरे पर झलकती रहती है। सरकारी अफसरों, रईसों और तथाकथित बड़े आदमियों में से कितने ही ऐसे होते हैं, जिनकी अकड़ और उद्दंडता देखकर यही सोचना पड़ता है कि छोटी सफलता पाकर उन्होंने सज्जनता का मार्ग छोड़ दिया और उद्धतता को अपना लिया है।

उद्दंडता सारी मनुष्य जाति का, सृष्टि की विधि-व्यवस्था का सज्जनता का अपमान है। यह किसी से भी बरदाश्त नहीं होती है। मानव की आत्मा इसके प्रति विद्रोह करती है। जिन्हें कोई व्यक्तिगत स्वार्थ हो उनकी बात दूसरी है। वैसे साधारणतया सभी को अहंकार बुरा लगता है। भले ही उसका कोई तुरंत विरोध न करे पर जब भी अवसर आता है अहंकारी व्यक्ति देखता है कि उसका एक भी सच्चा मित्र इस संसार में नहीं है। चापलूस और खुशामदी लोग जो अपने मतलब के लिए नाक का बाल बने हुए थे, अवसर पाते ही गिरे में लात लगाने का प्रयत्न करते हैं।

भगवान को मनुष्य के दुर्गुणों में सबसे अप्रिय अहंकार है। ईश्वर का अंश होने से जीव महान है, पर यह सारी महानता ईश्वर की है। अपनी सत्ता की दृष्टि से मनुष्य अत्यंत तुच्छ है, वह कितनी ही बातों में पशु-पक्षियों से भी पिछड़ा हुआ है। दूसरों की सहायता के बिना उसका काम ही नहीं चलता है। जो कुछ भी लाभ या सुख प्राप्त

होता है। उसमें उसकी निज की योग्यता का जितना महत्त्व है, उसकी अपेक्षा दूसरों के सहयोग और अनुग्रह का सहस्त्रों गुना अधिक श्रेय सम्मिलित रहता है।

अहंकारी के मन से सब सद्‌गुण उसी प्रकार विदा होने लगते हैं जैसे तालाब का पानी सूखने पर उसके तट पर रहने वाले पक्षी अन्यत्र चले जाते हैं। अहंकार से अन्य दुर्गुणों का पोषण होता है और घमंडी आदमी में वे सब बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो गुंडों या असुरों में होती हैं। असुर या गुंडों का अहंकार ही आरंभ में विकृत होता है, इसके पश्चात वे दूसरों को तुच्छ समझते हुए उनकी हर क्रिया में अपना अपमान देखने लगते हैं और उसका प्रतिशोध लेने के लिए जहरीले साँप की तरह अनर्थ करने पर उतारू हो जाते हैं।

अहंकार की उद्धतता मनुष्य के ओछेपन का चिह्न है। बड़प्पन में हर व्यक्ति झुकता और नम्र बनता है। उन्नति और सुधार उसी का संभव है जो अपनी त्रुटियों और दुर्बलताओं को जानता है। जो अपने को सर्वोपरि माने बैठा है उसे सुधार की बात सोचने का अवसर ही कहाँ है? ऐसे मनुष्य हवा भरे हुए पानी के बबूले की तरह अंत में उपहास के पात्र बनते हुए नष्ट हो जाते हैं। इसलिए विज्ञजन अहंकार को बहुत ही हेय मानते रहे हैं। हर सफलता प्राप्त करते समय हमें यह आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिए कि कहीं इससे हमारा अहंकार तो नहीं बढ़ा? यदि बढ़ा हो तो सोचना चाहिए कि लाभ की अपेक्षा हमारी हानि ही अधिक हुई है। अहंकार को एक भारी हानि ही नहीं विपत्ति भी मानना चाहिए।

❐

बिना मोल की अमूल्य संपत्ति

शालीनता

शारीरिक रुग्णता तो सभी को स्पष्ट दीख जाती है, उसके निदान एवं उपचार का प्रयास भी किया जाता है, पर मानसिक रुग्णता जब तक असामान्य न हो उठे, तब तक व्यक्ति उधर ध्यान नहीं देता। अधिकांश लोग अपना अधिकतर समय उद्वेग और चिंता से बोझिल मन:स्थिति के साथ ही गुजारते हैं और उन्हें यह ध्यान में नहीं आता कि ऐसा करके वे मन पर लगातार बोझ लाद रहे हैं और उसे क्लांत, कुंद और कमजोर बना रहे हैं। प्रसन्नता के जो क्षण उनके जीवन में आए होते हैं। उनकी स्मृति उन्हें पुलकित तो करती है, उस समय में आए हलकेपन का आह्लाद उन्हें बार-बार आकर्षित भी करता रहता है, पर वे यह नहीं जान पाते कि प्रसन्नता की इस मन:स्थिति को अधिकाधिक समय तक और सदैव भी बनाए रखना उनके अपने ही हाथ में है। वे प्रसन्नता की प्रतीक्षा को बड़ी अधीरता और उत्कंठा से करते रहते हैं, पर वह उनके ही अंत:करणरूपी घर के एक कमरे में किसी विनम्र परिचारिका की तरह बैठी है और सेवा का अवसर दिए जाने की प्रतीक्षा ही कर रही है, यह वे नहीं जानते।

उदासी, चिंता और खीझ का संबंध परिस्थितियों की प्रतिकूलताओं में उतना नहीं होता, जितना चिंतन की विकृतियों में। यदि बाह्य परिस्थितियाँ ही प्रसन्नता का कारण रही होतीं, संपन्न व्यक्तियों को सदैव प्रसन्न और विपन्नों को सदैव उदास ही दिखाई देना चाहिए था, पर ऐसा देखने में नहीं आता। आघातों-अभावों के तीक्ष्ण प्रहार व्यक्तियों को तिलमिलाते तो हैं किंतु प्रसन्न प्रकृति के व्यक्ति उन प्रहारों के चिह्न शीघ्र ही धो-पोंछ देते हैं, उनसे बचे रहने के उपाय भी अधिक तत्परता

से निकालते हैं। इसके विपरीत हताश, उद्विग्न व्यक्ति अधिकाधिक झंझटों में फँसते जाते हैं और सदा छटपटाते ही रहते हैं।

झंझटों से पूरी तरह मुक्त हो जाने के बाद ही जो प्रसन्न निश्चिंत रहने की योजना मन में गढ़ते रहते हैं, उन्हें विफलता ही हाथ लगती है। दुनिया में ऐसी स्थिति किसी भी व्यक्ति के जीवन में कभी नहीं आती, जब उसके सामने कोई भी उलझन शेष ही न रहे। प्रतिकूलताएँ-परेशानियाँ दुनिया का एक अनिवार्य अंग हैं। यह अपने ऊपर है कि उन पर खीझते-झुंझलाते रहें या कि चुनौतियों का मस्ती के साथ मुकाबला करें। मस्ती कोई परिस्थितिजन्य घटना नहीं है। वह मन की एक प्रवृत्ति है। सतत अभ्यास से इस प्रवृत्ति को भी प्रबल और प्रगाढ़ बनाया जा सकता है। साहसी-पुरुषार्थी व्यक्ति ऐसे ही होते हैं। वे अपने में आंतरिक उल्लास सदैव बनाए रखते हैं।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिंह की जीवनी के उस अद्वितीय प्रसंग से सभी परिचित हैं कि फाँसी की सजा सुनाए जाने के दिन से उनका वजन बढ़ने लगा था और मृत्युदंड के दिन तक कई पौंड बढ़ गया था। अनेक क्रांतिकारियों में यह मस्ती भरपूर थी और भयानक से भयानक प्रतिकूलताएँ भी उनकी प्रसन्नता को छीन नहीं सकीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने वाले सभी महापुरुषों के जीवन में यह मस्ती देखी जाती है। यद्यपि सुख-सुविधा के साधन उनके पास अत्यल्प होते हैं।

वस्तुतः प्रसन्नता और धैर्य परस्पर घनिष्ठता से संबंधित हैं। धैर्य के अभाव में व्यक्ति परिस्थितियों के आरोह-अवरोह से उत्तेजित ही होता रहता है। अति भावुक लोग सदैव उद्विग्न, अशांत रहे आते हैं, भावनात्मक कोमलता की मधुर अनुभूतियों का स्वाद भी वे गहराई से नहीं ले पाते। क्योंकि काल्पनिक शोक-संताप उन्हें क्षण-क्षण में डराते-सताते रहते हैं। उनका उत्साह भी वैसा ही अस्थायी होता है। वह उत्साह कम उतावली अधिक होती है। उतावली के आवेग से किसी

भी कार्य के सभी पहलुओं को न तो देख पाते न ही समस्त क्रमों का निर्वाह कर पाते हैं। ऐसे में असफलता स्वाभाविक है और असफलता से उद्विग्नता और अधिक बढ़ जाती है।

यदि अपनी भावनात्मक तीव्रता को प्रयत्नपूर्वक धैर्य के साथ संबद्ध कर दिया जाय तो परिणाम विस्मयकारी हो जाता है। सफलता की संभावना तो बढ़ ही जाती है, गतिशीलता से उत्पन्न स्वाभाविक सरसता व्यक्तित्व को एक अलग ही आनंद से परिचित करा देती है। प्रसन्नता भीतर से फूट-फूट पड़ती है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रसन्नता, धैर्य और गतिशीलता की संगिनी है। परिणाम के प्रति आतुरता रखे बिना धैर्यपूर्वक कार्यरत रहने में जिसे रस मिलने लगा, प्रसन्नता उसके भीतर सतत प्रवाहित होती रहती है। कुशल खिलाड़ी क्रीड़ा का रस लेना जानते हैं। सफलता के लिए वे सतर्क सन्नद्ध तो रहते हैं, पर जय-पराजय, दोनों का ही वे हलकी मुस्कराहट के साथ स्वागत करते हैं और अपना अधिक ध्यान अगले क्रीड़ाक्रम की ओर ही लगाते हैं तथा उसी में उत्साह के साथ प्रवृत्त हो जाते हैं।

प्रत्येक कार्य को खिलाड़ी की भावना से और तत्परता के साथ संपन्न करने की जिसने आदत डाल ली है उसकी मनोभूमि सदैव हाइड्रोजन एवं हीलियम जैसी हलकी-फुलकी और प्रसन्न-प्रफुल्ल रही है। कर्मपथ पर सोल्लास अग्रसर व्यक्ति यदि अंतिम परिणाम तक न भी पहुँचे, तो कर्मरुचि से शून्य व्यक्ति जैसी उदासी उसे कभी नहीं घेरती। उसका कर्म-कौशल में व्यतीत समय तो उल्लास-प्रसन्नता से भरपूर होता ही है, प्रयत्नों में ही कमी रह जाने से उत्पन्न पछतावे का विक्षोभ भी उससे दूर ही रहता है। इसके विपरीत आलसी-प्रमादी व्यक्ति सदा खीझते-कुढ़ते ही देखे जाते हैं। थकान और खीझ उनकी चिरसंगिनी होती है, विफलता और दुःख उनके सगे-संबंधी हुआ करते हैं।

तो क्या प्रसन्नता सक्रियता में निहित है ? इसका उत्तर तो हाँ ही है। पर यदि और सूक्ष्मता से देखा जाय तो उस क्रियाशीलता के काल में बनी रहने वाली उत्फुल्लता का निरंतर अभ्यास ही प्रसन्नता को स्वभाव का अंग बना देता है। प्रसन्नता या उदासी मन का एक अभ्यास मात्र है। जिसका अंत:करण उत्कृष्टताओं से जुड़ा है, उसमें उदासी जैसी अवांछनीयता के अभ्यास के प्रति स्वाभाविक अरुचि होती है। सतत अभ्यास से प्रसन्नता स्वभाव बन जाती है।

❐❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)